बच्चे बढ़ाकर अपने पैरों में कुल्हाड़ी न मारें

पण्डित श्रीराम शर्मा आचार्य

बच्चे बढ़ाकर अपने पैरों कुल्हाड़ी न मारें

लेखक :
वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१० मूल्य : १८.०० रुपये

विषय-सूची

★

मुद्रक :

युग निर्माण योजना प्रेस

गायत्री तपोभूमि, मथुरा (उ. प्र.)

आधुनिक सभ्यता की देन

भविष्य अविज्ञात है, उसके संबंध में समय से पूर्व कुछ नहीं कहा जा सकता। नियति का ऐसा कोई निर्धारण नहीं है कि अमुक घटना कब अमुक प्रकार से घटित होगी ? परिस्थितियों के अनुसार भविष्य की कल्पनाएँ अथवा संभावनाएँ उल्टी भी हो सकती हैं।

भविष्य के संबंध में इतनी अनिश्चितता होते हुए भी उसकी कल्पना करना और संभावित परिणाम की उपेक्षा करना—एक प्रकार से अनिवार्य ही है, क्योंकि इसके बिना म तो कोई योजना बन सकती है और न कुछ कार्य आरंभ किया जा सकता है। हानि उठाने और असफल होने के लिए भला कोई क्या और क्यों कुछ काम आरंभ करेगा ? अनेक तथ्यों और निष्कर्षों का सहारा लेकर मनुष्य काफी सोच-विचार करता है और जब उसे यह विश्वास हो जाता है कि इस कार्य को इस प्रकार करने से इतना लाभ होगा तो ही वह उसे आरंभ करता है। यह एक प्रकार से भविष्य निर्धारण ही तो हुआ। तीखी बुद्धि वाले अनेक तथ्यों के आधार पर दूर की सोचते हैं और ऐसे नतीजे पर पहुँचते हैं, जो प्रायः समय की कसौटी पर खरे ही उतरते हैं। व्यक्तियों, संस्थाओं और सरकारों द्वारा प्रायः भावी योजनाएँ बनाई जाती हैं। हर साल बजट इसी अनुमान-आधार पर पास होते हैं। पंचवर्षीय योजनाओं में भविष्य की कल्पना को ही प्रधानता दी जाती है। समझदार व्यक्ति भी अपने जीवन की रीति-नीति बनाते हैं, कार्य-पद्धति निर्धारित करते हैं और उनमें हेर-फेर लाते हैं। यह सब भावी संभावनाओं को ध्यान में रखकर ही किया जाता है। भविष्य निर्धारण के संबंध में जिसकी दृष्टि जितनी अधिक स्पष्ट होगी, वह उतना ही अधिक सुनिश्चित रहेगा और प्रगति कर सकेगा।

ग्रह-गणित वाले ज्योतिषियों और अतींद्रिय शक्ति से भविष्य कथन करने वालों की बात छोड़ दें, तो भी तथ्यों के आधार पर भावी संभावना की रूपरेखा प्रस्तुत करने वाले लोगों का महत्त्व बना ही रहेगा, क्योंकि उस आधार पर वर्तमान गतिविधियों की स्थापना करने में महत्त्वपूर्ण योगदान मिलता है। अस्तु अब भविष्य-कथन प्रबुद्ध वर्ग में प्रचलित एक महत्त्वपूर्ण शास्त्र माना जाने लगा है और उसका उत्साहपूर्वक समर्थन-अभिवर्धन हो रहा है।

भविष्य कथन की ज्ञान शाखा का विकास अमेरिका में उच्च स्तर पर हुआ है। वहाँ की सरकार ने प्रो० डेनियल वेल की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की, जिसमें सन् २००० में विश्व का क्या स्वरूप होगा ? इसके बारे में एक पूर्व परिकल्पना की है। समिति की रिपोर्ट पाँच खंडों में प्रकाशित हुई।

इसके अतिरिक्त हडसन इंस्टीट्यूट के अध्यक्ष हरमन कान्ह तथा उनके सहयोगी एंथोनी वीनर ने इसी विषय पर एक पुस्तक प्रकाशित की, जिसका नाम है—'दि ईयर २००० ए फ्रेमवर्क फॉर स्पेकुलेशन' इसमें भी वर्तमान शताब्दी के अंत तक विश्व के घटनाक्रम का सुविस्तृत एवं तथ्यपूर्ण उल्लेख है।

इस प्रकार के भविष्य कथन की पुस्तकें पिछले दिनों भी छपती रही हैं, जिन्हें 'युटोपिया' कहा जाता है। ऐसी अनेक युटोपियाओं का एक संकलन 'येस्टरडैज टुमारोज' नाम से प्रकाशित हुआ है। भूतकाल में यर्त्रा द जूवेनेल, टामस मूर, आल्डस हक्सले, स्विफ्ट, ब्रेल्सफोर्ड आदि विद्वानों ने समस्त विश्व अथवा उसके किसी भाग का भविष्य कथन करने वाली युटोपिया पुस्तकें प्रकाशित की हैं।

'युटोपिया' अललटप्पू कल्पना उड़ानों पर आधारित नहीं होतीं, वरन् उनके पीछे वर्तमान गतिविधियों और भावी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए ही कुछ निष्कर्ष निकाला जाता है। विज्ञान की प्रगति, औद्योगिक विकास, राजसत्ताओं की उलट-पुलट, जनसंख्या की वृद्धि, साधन स्रोतों की सीमा, मानवी प्रकृति में

परिवर्तन, खपत और उत्पादन का संतुलन जैसे अनेक तथ्यों का सहारा लेकर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि भविष्य का ऊँट किस करवट बैठने वाला है ? यह सभी तथ्य एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। किस तथ्य का रुझान किस ढलान की ओर लुढ़क रहा है और अगले दिनों उसमें क्या मोड़ आने वाला है ? जो इस शतरंज को ठीक तरह समझ सकने की प्रखर कल्पना शक्ति सँजोये हों और आवश्यक तथ्यों का सही रूप से संग्रह कर रहे हों, उनके लिए भविष्य का ऐसा निष्कर्ष निकाल सकना कुछ बहुत कठिन नहीं होता। संपन्न देशों के बड़े व्यापार फर्म एक विभाग ही इस भविष्य कथन की शोध करते रहने के लिए नियुक्त रखते हैं और उस पर प्रचुर खर्च करते हैं।

भविष्य शास्त्र की ज्ञान शाखा के अंतर्गत महत्त्वपूर्ण शोध कार्य अमेरिका की एक संस्था पिछले दिनों कर रही थी—नाम था उसका रैंड। सेंटामोनिका बीच के पास उसका विशाल भवन था; उसमें अनेक बुद्धिजीवी—संसार की विभिन्न गतिविधियों का अध्ययन करके भावी संभावनाओं का आकलन करके उस दिशा में अमेरिका के विभिन्न वर्गों को उपयोगी सुझाव देने योग्य निष्कर्ष प्रस्तुत करते थे। इन्हीं शोधकर्ताओं में एक था—हरमन कान्ह। उसने उक्त संस्था छोड़कर ठीक उसी तरह का अपना अलग संस्थान बनाया, नाम रखा 'हरमन इंस्टीट्यूट', जिसे लोग 'थिंकटेंक' अर्थात् ज्ञान सरोवर के नाम से भी पुकारते हैं। हरमन संसार के उच्चकोटि के ज्ञानवानों में से एक गिना जाता था।

हरमन की महत्त्वपूर्ण पुस्तक है—'ऑन थरमोन्यूक्लियर वार'। इसमें अणु युद्ध, उसकी संभावना तथा प्रतिक्रिया पर विस्तृत प्रकाश डाला है और सुझाव दिया है कि उस विभीषिका के संदर्भ में अमेरिका को क्या करना चाहिए ? इस पुस्तक ने जनता और सरकार के मस्तिष्क को बेतरह झकझोरा। पुस्तक की जहाँ उस प्रकाशक ने भूरि-भूरि प्रशंसा की, वहाँ लेखक को 'इडियट जीनियस' कहकर तिरस्कृत भी किया गया। जो हो, हरमन अपने

शोध कार्य में दत्तचित्त से लगा रहा। उसकी शोध संस्था में ७५ व्यक्ति काम करते थे। इनमें से ३५ तो बहुत ही उच्चकोटि के विद्वान् तथा सूक्ष्म दृष्टि संपन्न थे। ३०० पौंड भारी इस 'मोटू' भविष्यवक्ता की संसार भर में चलते-फिरते कंप्यूटर के रूप में ख्याति रही है। समय-समय पर की गई उसकी राजनैतिक और औद्योगिक भविष्यवाणियाँ अब तक सही निकलती रही हैं।

हरमन ने (१) बढ़ती हुई जनसंख्या (२) बढ़ती हुई संपन्नता (३) बढ़ते हुए सरकारी नियंत्रण (४) बढ़ती हुई वैज्ञानिक प्रगति और (५) बढ़ती हुई स्वार्थपरता की ओर संसार का ध्यान आकर्षित किया है और कहा है, समय रहते इन पाँच विभीषिकाओं को रोका जाए, अन्यथा अगली शताब्दी की असाध्य समस्याओं का सामना करना पड़ेगा; वर्तमान प्रगति अगले दिनों मनुष्य जाति के गले में पड़ा हुआ फाँसी का फंदा सिद्ध होगी।

■ क्या यही प्रगति है ?

निस्संदेह मनुष्य ने पिछली शताब्दियों में असीमित प्रगति की है। अपने इस युग को प्रगति-युग माना जाता है। इस प्रगति के लिए कहा जाता है कि जो जानकारियाँ एवं सुविधाएँ पूर्वजों को प्राप्त थीं, उनकी तुलना में अपनी उपलब्धियाँ कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी हैं। यह दावा इस हद तक ही सही है कि निस्संदेह बढ़ोत्तरी हुई है, पर प्रगति किस दिशा में हुई है, यह विचारणीय है। बढ़ना उत्थान की दिशा में भी हो सकता है और पतन की ओर भी। साधनों की मात्रा बढ़ाने में नहीं, वरन् उनका सदुपयोग कर सकने वाली बुद्धिमत्ता के बढ़ने पर ही यह कहा जा सकता है कि प्रगति हुई। यदि बढ़ते हुए साधन विनाश-विग्रह और पतन के लिए प्रयुक्त किये जा रहे हैं, तो यही कहना पड़ेगा कि इस उन्नति की तुलना में वह अभावग्रस्तता अच्छी थी, जिसमें मनुष्य स्नेह, सद्भाव और चैन-संतोष के साथ रहता था।

वर्तमान प्रगति किस दिशा में हुई है ? उससे हमने क्या पाया है ? मानसिक, शारीरिक और सामाजिक सुख-शांति के बढ़ने में—मानवीय मूल्यों को बढ़ाने में उससे कितना योगदान मिला है ? यह विचारने योग्य बात है।

योरोप का सबसे प्रगतिशील व्यवसायी देश है—जर्मनी और इस महाद्वीप का सबसे अधिक संपन्न देश फ्रांस। इन दोनों देशों की प्रजा बहुत सुसंपन्न और साधनों से भरपूर है।

इस समृद्धि का उपयोग व्यक्तिगत विलासिता के अतिरिक्त और भी हो सकता है, यह सोचने की उन्हें फुरसत नहीं है। विलासिता की मस्ती ही उन्हें जीवन की उपलब्धि प्रतीत होती है। अकेले पेरिस नगर में १५०० क्लब ऐसे हैं, जिसमें युवा नर-नारी निर्वसन होकर नृत्य करते और राग-रंग में लीन रहते हैं। नशेबाजी आकाश चूमने लगी है। जर्मनी में ४ लाख पुरुष और २ लाख स्त्रियाँ ऐसी हैं, जो अहर्निश नशे में चूर पड़े रहते हैं। फ्रांस में एक लाख आबादी के पीछे हर साल १० व्यक्ति नशे की अधिकता से दुर्घटनाग्रसित होकर बेमौत मरते हैं। अमेरिका में नशेबाजी के कारण मरने वालों की वार्षिक संख्या ३,५०,००० पहुँच चुकी है।

रूस जब अमेरिका से हर क्षेत्र में बाजी मारने में कटिबद्ध रहा है, तो नशेबाजी में ही पीछे क्यों रहे ? उस देश में २० अरब रुबल अर्थात् भारतीय सिक्के के अनुसार २०० अरब रुपये की 'वोदका' शराब पी जाती है।

अस्त-व्यस्त, अनिश्चित, आशंकाग्रस्त एवं एकाकी जीवन का तनाव इतना भारी पड़ रहा है, कि लोग नींद की गोली खाये बिना मस्तिष्कीय उत्तेजना से पीछा छुड़ा ही नहीं पाते। यह नींद की गोलियाँ दैनिक आहार में शामिल हो गई हैं। दिन-दिन बढ़ता तनाव, नशीली गोलियों का घटता प्रभाव, अधिक मात्रा में सेवन करने के लिए विवश करता है, उस समय तो लगता है कि अनिद्रा की व्यथा से छुटकारा पाने का अस्त्र हाथ लग गया, किंतु शरीर के सूक्ष्म संस्थानों में यह विषाक्तता इतनी गहराई तक घुस जाती है कि

उनमें विविध प्रकार की व्याधियाँ उठ खड़ी होती हैं। संतानोत्पादन पर तो नशेबाजी का और भी बुरा प्रभाव पड़ता है। अमेरिका में हर वर्ष ढाई लाख बच्चे विकलांग पैदा होते हैं। १६८० में ऐसे बच्चों की संख्या डेढ़ करोड़ से ऊपर निकल गई थी। इंग्लैंड में हर ४० नवजात शिशुओं में एक विकलांग या अर्धविक्षिप्त उत्पन्न होता है। हांगकांग में ८७ के पीछे एक, स्पेन में ७५ के पीछे एक और आस्ट्रेलिया में ५३ के पीछे एक बच्चा विकलांग पैदा होता है। इसका एकमात्र कारण नशेबाजी की नर एवं नारियों की बढ़ती हुई आदतें, रात को नींद की गोली लेना ही माना गया है।

विवाहों और तलाकों की अमेरिका में पूरे उत्साह के साथ धूम है। हर साढ़े तीन विवाहों में से एक को तलाक लेना पड़ता है। उस देश में इन दिनोंलगभग ३ करोड़ महिलाएँ विवाह के झंझट में फँसने की अपेक्षा अविवाहित जीवनयापन कर रही हैं और प्राप्त हुए कटु अनुभव को दुबारा दुहराने की हिम्मत नहीं कर रही हैं।

पारिवारिक भ्रष्टता का बच्चों पर कितना बुरा असर पड़ता है, इसका अनुमान इस एक ही जानकारी से लग जाता है कि १८ वर्ष की आयु तक पहुँचने से पूर्व ही हर छह में से एक अमेरिकी लड़के को किसी बड़े अपराध में जेल की हवा खा लेनी पड़ती है।

यह तरक्की का एक पहलू है, जो आँखों से दिखाई पड़ती है और मोटी बुद्धि भी प्रत्यक्ष परिणामों के आधार पर जिसकी विभीषिका को समझ लेती है, किंतु अन्य असंख्य तस्वीरें ऐसी हैं, जो पर्दे की ओट में खड़ी रहने के कारण अपने संहारी प्रभाव से जन-साधारण को अपरिचित जैसी स्थिति में डाले-भुलाये रहती हैं। उदाहरण के लिए नशे को ही लें। नशेबाजी के उपकरण और मादक द्रव्य बनाने में लगभग उतनी ही जन-शक्ति और संपत्ति लगती है, जितनी कि युद्ध-व्यवसाय में। मनुष्यों ने जितनी आयु युद्ध की वेदी पर चढ़ाई, उसका हिसाब लगाया जा सकता है। मनुष्य की औसत आयु साठ वर्ष की मानी जाए और युद्ध में मरने वालों की औसत उम्र ३५ साल, तो यह कहा जा सकता है कि औसत सैनिक

ने अपनी २५ वर्ष की आयु युद्ध देवता की वेदी पर समर्पित कर दी। यदि लड़ाई में एक लाख मनुष्य मरे हों, तो मानवी उम्र के २५ लाख वर्ष उसमें होम दिये गये—यह तथ्य स्वीकार किया जा सकता है। अब नशेबाजी को लीजिये। यदि संसार की आधी आबादी नशा पीती मानी जाये और उन तीन सौ करोड़ मनुष्यों में हर मनुष्य अपने जीवन के दस वर्ष नशे की वेदी पर कम कर रहा हो, तो कहा जायेगा कि तीस अरब वर्ष नशा खा गया। यह युद्ध से कम नहीं, वरन् बढ़ा-चढ़ा विनाश है। इन साधनों को उत्पन्न करने और बनाने में जो श्रम एवं धन लगता है, उस पूँजी की युद्ध-पूँजी से और युद्ध-श्रम से तुलना की जाय तो, इस आधार पर भी नशा आगे है और युद्ध पीछे। बारूद जल जाती है और धमाके के बाद उसके पीछे कोई उत्पादक परिणाम नहीं रहता। नशे के उपकरण भी पीने के साथ-साथ नष्ट हो जाते हैं, इतने तक दोनों की समता है, किंतु नशे का प्रभाव पीछे भी बना रहता है। जो लोग पीते हैं, वे आधि-व्याधियों से घिरते जाते हैं और रोते-कलपते, सिसकते-कराहते जिंदगी के दिन काटते हैं। उनका बुरा प्रभाव पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता चला जाता है।

कहते हैं कि नशा पीने से सुस्ती दूर होती है और गम गलत होता है। फिर ऐसे काम ही क्यों किये जाएँ, जो सुस्ती और गम पैदा करें। भलमनसाहत का हल्का-फुल्का जीवन जिया जा सकता है और सुस्ती तथा गम उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों से बचा जा सकता है। यदि ध्वंस के स्थान पर सृजन को नियोजित किया जाए और नशे के स्थान पर दूध उद्योग खड़ा कर दिया जाए, तो हर व्यक्ति को एक किलो दूध हर रोज मिलता रह सके, ऐसी व्यवस्था हो सकती है। साथ ही खाद, गोबर और बछड़ों से अनुत्पादक जमीन उपजाऊ बनाकर खाद समस्या सर्वदा के लिए हल की जा सकती है।

मानवीय बुद्धि के ध्वंस और सृजन का एक छोटा-सा उदाहरण है कि वह युद्ध एवं नशे के नाम पर कितनी बड़ी बर्बादी करता और अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारता है।

प्रगति या अभिशाप

निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि पुरखों की अपेक्षा हम शिक्षा, संपत्ति एवं सुविधा-साधनों की दृष्टि से कुछ आगे ही बढ़े हैं। अब से दो शताब्दी पहले रेल, मोटर, वायुयान, बिजली, रेडियो आदि कहाँ थे ? इतने स्कूल, कॉलेज भी नहीं थे और कल-कारखाने भी कहाँ थे ?

जिन बातों में हम पूर्वजों से आगे बढ़ रहे हैं, उनमें एक बात यह भी सम्मिलित है कि हम ऊँचे उठ रहे हैं। चरित्र, साहस, मजबूती एवं दूरदर्शिता की दृष्टि से न सही, शरीरों की ऊँचाई तो कुछ बढ़ ही गई है। वैज्ञानिक अन्वेषण के अनुसार पिछले सौ वर्षों में मर्दों की ऊँचाई का औसत ६ सेंटीमीटर और स्त्रियों का ६.५ सेंटीमीटर बढ़ गया है। सौ वर्ष पहले १४ से १६ वर्ष के किशोर जितने ऊँचे होते थे, उसकी तुलना में वे अब १७ सेंटीमिटर अधिक ऊँचे होते हैं। इस प्रकार किशोरावस्था में यह वृद्धि चरम सीमा पर है। इसकी तुलना में बच्चों, तरुणों और वृद्धों पर अपेक्षाकृत बहुत कम फर्क पड़ा है।

युवावस्था के चिह्नों के प्रकट होने में सौ वर्षों में दो वर्षों की जल्दी होने लगती है। अब लड़कों में १२ और १४ वर्ष के बीच तथा लड़कियों में १० और १२ वर्ष के बीच यौवन चिह्नों का प्रकटीकरण आरंभ हो जाता है, जबकि १०० वर्ष पहले इससे दो वर्ष बाद होता था।

पिछले दशक में संसार में सबसे लंबा पुरुष अमेरिका का राबर्ट इग रहा है, जिसकी ऊँचाई ९ फीट ६ इंच थी। स्त्रियों में सबसे लंबी स्त्री बर्लिन निवासी मारीना वेग रही है। यह ८ फुट ४ इंच ऊँची थी। पुरुषों में राबर्ट इग के बाद दो व्यक्तियों का नंबर आता है। वे दोनों ही ९ फुट ३ इंच के हैं। इनमें से एक इंग्लैंड के टी० इवान्स और दूसरे फिनलैंड के कामानस हैं।

बिजली, रेडियो, रेल, मोटर, जहाज, तार, टेलीफोन आदि अनेकों वैज्ञानिक उपकरण हमारे लिए अनेकों सुविधा-साधन जुटा रहे हैं। कल-कारखानों ने उद्योग-व्यवसायों को बढ़ाया और मनुष्य

अपेक्षाकृत अधिक धनी हुआ है। स्वास्थ्य, शिक्षा, चिकित्सा, विज्ञान, शासन जैसे क्षेत्रों में आशाजनक प्रगति हुई है। इन सब पर दृष्टिपात करते हुए सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि हम पुरखों की अपेक्षा कहीं आगे हैं।

केवल दो ही क्षेत्र ऐसे हैं, जिनमें क्रमशः निरंतर पीछे हटते और नीचे गिरते चले जाते हैं, वे हैं—सद्भावना और चरित्र-निष्ठा। संभवतः इन्हें चतुरता और स्वार्थपरायणता की तुलना में हेय समझा गया है, प्रतिगामी माना गया है और उन्हें उपहासपूर्वक पीछे छोड़ दिया गया है। फलतः बढ़े हुए सुविधा-साधन रहते हुए भी हम अपेक्षाकृत अधिक दरिद्र, अधिक दु:खी और अधिक दयनीय बन गये हैं।

आज का मनुष्य बहुत निराश है; पर उसका कारण अभाव, भय या पीड़ा नहीं, वरन् 'आस्थाओं की समाप्ति' है। आदमी सोचता है, वह किसलिए जिये—किसके लिए जिये—कौन उसे प्यार करता है—किससे वह प्यार करे ? इन प्रश्नों के उत्तर उसे नहीं मिलते, फलतः वह अधिकाधिक निराश होता चला जाता है। आंतरिक खीज को मिटाने के लिए कभी वह हिप्पी, अव्यवस्थित, पलायनवादी बनता है और कभी उद्दंड, उच्छृंखल, आततायी के रूप में क्रूर-कर्म करता है, भीतरी असंतोष की आग को बुझाने के लिए वह इन दो घड़ों को टटोलता है, पर उनमें भी पानी कहाँ है ? तेल भरी इन कुप्पियों को उड़ेलने पर उसे उद्विग्नता से छुटकारा कहाँ मिलता है ?

निर्धन देशों को अगणित समस्याओं में उलझे हुए देखकर कहा जाता है कि इनकी सुख-शांति, धनाभाव के कारण नष्ट हो गई है। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि दरिद्रतावश लोग कुमार्ग अपनाने पर उतारू होते हैं; पर ऐसा सोचना तथ्यों के विपरीत है।

क्या गरीबी ही अपराधों की एकमात्र जड़ है ? इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए हमें अमीर और गरीब देशों के बीच चल रही अपराध वृद्धि की होड़ का अनुपात देखना होगा। अमेरिका में हर व्यक्ति की औसत आमदनी ५००० रु० वार्षिक है। फिर भी उस देश में प्रति सेकंड १८ अपराध होते हैं। उत्तर प्रदेश औसत

आमदनी की दृष्टि से २६० रु० वार्षिक पर गुजारा करता है; पर उसमें ढाई मिनट पर एक अपराध होने का औसत है। कहाँ एक सेकंड में १८ और कहाँ ढाई मिनट में एक ! यह लगभग ढाई हजार गुना अंतर हुआ।

रूस भी अमेरिका से हर बात में होड़ लगा रहा है। वहाँ कठोर शासन तथा नियंत्रित समाज व्यवस्था है। आर्थिक कठिनाइयाँ भी बहुत नहीं है, फिर भी अपराध चिंताजनक गति से बढ़ रहे हैं। ब्रिटेन वालों की शिकायत है कि १४ वर्ष से कम उम्र के लड़के-लड़कियाँ भी इन्हीं थोड़े दिनों में दूनी संख्या में शराबी हो गये हैं। वे इस छोटी उम्र में अन्य बुरी लतों से ग्रस्त होकर मन की आवश्यकता पूरी करने के लिए तरह-तरह के अपराधों को अपनाते हैं।

सच्चाई यह है कि लक्ष्यविहीन जीवन सदा अशांत ही रहेगा, भले ही विलासिता के कितने ही अधिक साधन उपलब्ध होते चलें ? निर्धनों और अशिक्षितों की तुलना में धनी और सुशिक्षित लोग अधिक खिन्न, उद्विग्न पाये जाते हैं।

अमेरिकी चलचित्रों में अभिनय करने वाली अभिनेत्रियों में कुछ समय पूर्व मर्लिन मुनरो मूर्धन्य स्थान पर थी। अपनी सुंदरता, कला, स्फूर्ति, मुस्कान, थिरकन और सुरीली आवाज के कारण वह करोड़ों चित्रपट दर्शकों के मस्तिष्क पर छाई रहती थी। वह कला-प्रेमियों के हृदय की रानी रही है—उसने अपने अभिनय का पूरा मूल्य वसूल किया, करोड़ों रुपये कमाये और ऊँचे दर्जे के धनी तथा सुखी लोगों में गिनी गई।

उससे प्रणय-निवेदन करने के लिए एक-से-एक सुंदर, स्फूर्तिवान् तथा साधन संपन्न व्यक्तियों की लंबी लाइन लगी रहती थी। इनमें जो-जो सर्वोत्तम जँचे, उन्हें उसने वरण भी किये; लेकिन दूर का आकर्षण अधिक निकट आने पर समाप्त हो गया और कुछ ही दिन बाद तलाक देना पड़ा। यह परीक्षण उसने बार-बार नये उत्साह और नये अनुभव लेकर किया। एक के बाद एक, तीन विवाह किये और उन सबको तलाक दे दिया। एक भी उसे लायक

न जँचा, जिसे वह हृदय दे सकती और उसका हृदय पा सकती। किसी से भी उसे सुख नहीं मिला। इसलिए निराश होकर उसने यह प्रयोग बंद कर दिया और इस निश्चय पर पहुँची कि विवाह से कोई लाभ नहीं, वरन् एक जंजाल ही गले में बाँधना है।

स्टेज पर हँसते-हँसाते उसने प्रायः जवानी काट दी। वाहवाही भी मिली और पैसा भी, पर शांति एवं संतोष का कभी एक क्षण भी उसने नहीं देखा। लोगों से—उनके व्यवहार से—जमाने के ढर्रे से उसके मन में बेहद घृणा पनपती रहीं; एक आँख से कटाक्ष और दूसरी आँख से असीम तिरस्कार का दुहरा खेल उसे आये दिन खेलना पड़ा। अंत में वह थककर चूर हो गई। अंतर्द्वंद्वों ने उसे भीतर ही भीतर खोखला कर डाला, ढलती आयु में उसने अपना पेशा छोड़ दिया। छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। मानसिक तनावों ने उसकी निद्रा छीन ली। अनिद्रा के साथ-साथ खीज भरे उद्वेग उसे सताते रहे। आंतरिक विक्षोभों से संतप्त होकर उसने एक दिन यही फैसला किया कि इतनी नीरस और कर्कश जिंदगी जीने से कोई लाभ नहीं। सो उसने मुसीबत के वक्त थोड़ा-बहुत साथ देने वाली नींद की गोलियों को ही अपनी छाती से लगाया। शीशी खोली और एक के बाद एक दर्जनों गोलियाँ खाती चली गई। अंत में उन्हीं के साथ लिपटकर सदा के लिए सो गई। सबेरे दरवाजा तोड़कर उसका मृत शरीर निकाल गया, तो उस पर विषाद और निराशा की गहरी छाया छाई हुई थी; यों चेहरे की सुंदरता तब भी बनी हुई थी और दौलत भी अपनी जगह सुरक्षित थी।

आज की प्रगति, जिसे सभ्यता का नाम दिया जाता है, देखने में आँखों को चकाचौंध करती है, बहुत आकर्षण होते हुए भी नितांत खोखली है; क्योंकि उसके पीछे न तो ऊँचे लक्ष्य हैं, और न कोई आदर्श। मात्र विलास, तृष्णा और अहंकार की पूर्ति के लिए विविध-विधि आडंबर बनाने में लोग निरत रहते हैं। जिस तरह भी हो सके, बिना नीति-अनीति का विचार किये अधिकाधिक सुख-साधन एकत्रित किये जाएँ और जितना उपभोग संभव हो, उसे बिना किसी

मर्यादा का ध्यान रखे, पूर्ण स्वेच्छाचारी बनकर भोगना चाहिए। इसी तथाकथित प्रगति और सभ्यता का दुष्परिणाम आज हम सबके सामने है।

साहित्य में नोबुल पुरस्कार प्राप्त करने वाले अंग्रेजी भाषा के ८७ वर्षीय महाकवि एजरा पाइंड का भी सन् १९७२ में देहावसान हुआ है। उन्होंने अपनी अधिक लोकप्रिय कविता में यह बताने का प्रयत्न किया है, कि हम सभ्यता के व्यामोह में फँसे हुए वस्तुतः आदिमकाल के जंगलीपन को अपनाने के लिए चल पड़े हैं।

स्टेनिसलाव ऐंड्रेस्की न तो कवि हैं और न साहित्यकार। वे विशुद्ध विज्ञानवेत्ता हैं, पर उन्होंने आज के वैज्ञानिक युग को भ्रांतियों का जमाना कहा है और इस तथ्य को उन्होंने 'जादूगरों की दुनिया' नामक ग्रंथ में भली प्रकार सिद्ध किया है। वे कहते हैं—हम खोजते और बनाते तो बहुत कुछ हैं, पर उसका जो प्रयोग-उपयोग करते हैं, उससे प्रगति का नहीं, अवगति का ही पथ-प्रशस्त होता है।

■ साधनों की वृद्धि-स्तर की क्षति

प्रगति और उन्नति के नाम पर मनुष्य ने ऐसे साधनों का ही विकास किया है, जिनके कारण वह स्वयं को अधिकाधिक साधन-सुविधाओं से संपन्न कर सके। उसका स्वयं का नैतिक, चारित्रिक और आत्मिक स्तर ऊँचा उठ सके, ऐसे कोई प्रयास विशेष नहीं हुए। परिणाम यह हुआ कि साधन-सुविधाओं से लैस मनुष्य, जो पहले जीविकोपार्जन और जीवन संघर्ष में ही व्यस्त रहता था, अब खाली और सुविधामय रहने लगा।

स्पष्ट है कि खाली दिमाग में कुछ-न-कुछ करने की बात उठती ही रहती है। इसे दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि आज का मनुष्य संकल्प, लक्ष्य व जीवन-शिक्षा के अभाव में अवगति की ओर ही अग्रसर हुआ और कतिपय बुद्धिजीवियों ने इस अवगति को मनुष्य का सहज स्वभाव निरूपित करते हुए उसे पतन के गर्त में गिरने के लिए और भी योग दिया। कामुक उत्तेजना, सेक्स, यौन

आनंद और ऐसी ही क्षुद्र क्रीड़ाओं को ही जीवन का तत्त्व निरूपित करने के जो प्रयास चल रहे हैं, उन्हें दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जाना चाहिए। आजकल कामुक उत्तेजना भड़काने के लिए जितना साहित्य लिखा और छापा जा रहा है, जितनी तस्वीरें बिक रही हैं, जितने गीत, वाद्य, अभिनय और फिल्म चल रहे हैं, उन सबके बनाने, प्रचारित करने और उपयोग करने में जितनी धन-शक्ति और जन-शक्ति लगती है, उसका लेखा-जोखा लिया जाये, तो प्रतीत होगा कि यह उद्योग, युद्ध और नशे की तुलना में किसी भी प्रकार कम नहीं है। उसके दुष्परिणाम उन दोनों के सम्मिलित उपद्रव की अपेक्षा कहीं बढ़कर हैं। इस भड़की हुई उत्तेजना से लोग अपना शारीरिक, मानसिक और नैतिक स्वास्थ्य किस बुरी तरह नष्ट करते हुए खोखले बनते जा रहे हैं, उसके निष्कर्षों का मूल्यांकन करने पर प्रतीत होता है कि यह मंद गति से संपन्न होने वाली आत्महत्या है। उसके सामाजिक दुष्परिणाम कितने भयानक होते हैं ? गृहस्थ जीवन की शालीनता किस प्रकार नष्ट होती है और पीढ़ियाँ किस प्रकार कुसंस्कारी बनती जाती हैं ? इसका विवेचन सहज ही नहीं हो सकता। प्रकृति की एक सामान्य-सी क्रीड़ा को जीवन की सर्वोपरि आवश्यकता के स्तर तक पहुँचा देना इसी बुद्धि-चमत्कार का काम है, जिसने कामुकता भड़काने के कुकृत्य को एक अच्छा-खासा व्यवसाय बनाकर रख दिया है। तरह-तरह के श्रृंगार-प्रसाधन इसी वर्ग में गिन लिए जाएँ, तब तो यह संसार का सर्वप्रथम उद्योग बन जायेगा और प्रतीत होगा कि अन्न उत्पादन से भी अधिक शक्ति कामोत्तेजना भड़काने के लिए झोंक दी गई है।

ध्वंस में लगी इस मानवीय क्षमता के कारण चारित्रिक स्तर में गिरावट, रोग, बीमारियाँ, अशक्तता और उच्छृंखलता जैसे अनर्थ व दुष्प्रवृत्तियाँ तो बढ़ ही रही हैं, उनमें एक अनर्थ ही इतना भयंकर है कि उसके लिए विश्व के सभी मनीषी, विचारक, वैज्ञानिक और

राजनीतिज्ञ हर कोई चिंतित है। वह समस्या है—अनियंत्रित संतानोत्पादन के कारण उत्पन्न होने वाला जनसंख्या विस्फोट।

अनियंत्रित संतानोत्पादन और मौज-मजे की जिंदगी इस युग की दो ऐसी दुष्प्रवृत्तियाँ हैं, जो प्रकृति के सुव्यवस्थित क्रियाकलापों को चुनौती देकर महाकाल को विविध-विधि आपत्तियों में धकेल देने के लिए बाध्य कर रही है।

जनसंख्या नियमन आज की खाद्य, शिक्षा, चिकित्सा, आजीविका एवं युद्ध से भी बड़ी समस्या है। उस एक समस्या को मूल और अन्यों को पत्ते कहा जा सकता है। जड़ को काटने-मिटाने से काम चलेगा, पत्ते तोड़ने से नहीं। जनसंख्या सीमित हो, तो धरती के अनुदानों से, प्रकृति-संपदा से लाभान्वित हुआ जा सकता है और विभिन्न प्रकार के टकरावों से बचा जा सकता है, अस्तु यदि संसार के विचारशील लोग इस समस्या के समाधान के विभिन्न उपाय सोच रहे हैं और विवेकवान् वर्ग विभिन्न प्रयोग कर रहे हैं, तो यह सराहनीय चेष्टा ही कही जायेगी।

एक ओर मानवता भूख की समस्या से भयाक्रांत है, तो दूसरी ओर जनसंख्या वृद्धि उस समस्या को और भी विकराल बनाये दे रही है। इन समस्याओं का हल खोजने के लिए संसार के मूर्धन्य मस्तिष्क चिंतित हैं। कई उपाय सोचते हैं; पर इन समस्याओं पर काबू पाने का कोई कारगर उपाय हाथ नहीं लग रहा है। हाँ, इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि आत्यंतिक परिणाम जो भी हो, अंतिम उपाय जो भी निकले, अगली शताब्दी तक यदि इस समस्या पर व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक दृष्टि से गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया गया, तो उसके बड़े भयंकर परिणाम होंगे।

❒❒

अणु विस्फोट से भयंकर जनसंख्या वृद्धि

सारे विश्व में सबसे अधिक उत्पादन यदि किसी वस्तु का बढ़ रहा है, तो वह है मनुष्य का उत्पादन। घड़ी में लगी सेकेंड की सुई इधर टिक करती है, उधर संसार में कहीं-न-कहीं तीन बच्चे जन्म लेते हैं। एक सप्ताह गुजरता है, तब तक जनसंख्या के पुराने आँकड़ों में बीस लाख शिशुओं की वृद्धि हो जाती है। इसीलिये कोई भी जनसंख्या विशेषज्ञ पृथ्वी की जनसंख्या की शत-प्रतिशत जानकारी कभी दे ही नहीं सकता। जितनी देर में वह एक वाक्य बोलेगा, उतनी देर में ही एक सौ बच्चों की संख्या और बढ़ जायेगी।

विश्व की जनसंख्या कितनी तेजी से बढ़ रही है; इस बीसवीं शताब्दी के जो आँकड़े उपलब्ध हैं, उनसे पता चलता है कि सन् १९०१ की जनगणना में समस्त विश्व में २३८ करोड़ मनुष्य रहते थे। वे सन् १९११ में २५२ करोड़ हो गये और आबादी वृद्धि का औसत १३ प्रतिशत रहा। सन् १९२१ में यह आबादी लगभग उतनी ही रही। जर्मन युद्ध ने तथा उन्हीं दिनों फैली महामारियों ने संख्या बढ़ने नहीं दी। सन् १९३१ में शांति का समय आते ही यह संख्या २७८ करोड़ हो गई, वृद्धि का औसत २७ हजार बढ़ा। सन् १९४१ में ३१८ करोड़ तक पहुँची और वृद्धि दर ३८ प्रति हजार पहुँची। आगे इस क्रम में और तेजी आई। सन् १९५१ में ३६० करोड़ हुई, वृद्धि दर ४२ प्रति हजार पहुँची। सन् १९६१ में संख्या ४३६ करोड़, दर ७८ प्रति हजार। सन् १९८६ में ५०० करोड़ संख्या और वृद्धि दर ६१ प्रतिशत। इसी चक्रवृद्धि क्रम से बढ़ती हुई गति से अनुमान है कि अगले दो दशकों में यह संख्या लगभग हजार करोड़ हो जायेगी। अगले दिनों विश्व की आबादी कहाँ तक पहुँच जायेगी, इसका पता लगाने के प्रयास भी हुए हैं।

सन् १९८० के पूर्व अमेरिकी जनसंख्या अध्ययन ब्यूरो द्वारा प्रकाशित रिपोर्ट में कहा गया है कि विश्व की जनसंख्या प्रतिवर्ष ६ करोड़ ५० लाख बढ़ रही है। यदि इस वृद्धि को रोकने का प्रयत्न नहीं किया गया तो १९८० तक ४ अरब, ३० करोड़ और सन् २००० तक वह लगभग ६ अरब हो जायेगी। अकेले चीन की संख्या तब एक अरब ५० करोड़ होगी और यदि महामारी, युद्ध जैसी विभीषिका न आई और भरण-पोषण के साधन उपलब्ध होते रहे, तो भारतवर्ष की ही जनसंख्या १ अरब हो जायेगी।

ईसा से आठ हजार वर्ष पूर्व सारे संसार में कुल लगभग २५ लाख लोग थे। उस समय न कोई अकाल का भय था, न महामारी का। पृथ्वी का वातावरण शुद्ध था, खाने को प्रकृति ही इतना दे देती थी कि कृषि आदि में व्यर्थ परिश्रम नहीं करना पड़ता था। लोग देशाटन और ज्ञानार्जन का आनंद लेते थे। जैसे-जैसे जनसंख्या बढ़ी, जटिलता बढ़ती गई और उसी अनुपात से स्वास्थ्य, आरोग्य, आजीविका, संरक्षण, खाद्य पदार्थ, निवास-स्थान, शिक्षा, सामाजिकता, अपराध आदि समस्याएँ भी बढ़ती गईं। आज तो जनसंख्या वृद्धि के कारण सारा संसार ही एक समस्या बन गया है।

इस क्षेत्र में संयम यदि न बरता गया तो स्थिति भयावह होगी। '१६', यह संख्या लिखने में जितना समय लगा, उतनी देर में १६ नये बच्चों ने जन्म लिया। एक मिनट में २२५ बच्चे जन्म लेते हैं, एक घंटे में उनकी संख्या २२५ × ६० = १३५०० हो जाती है। उस हिसाब से एक दिन में १३५०० × २४ = ३२४००० होनी चाहिए, पर बढ़ोत्तरी इससे भी अधिक होगी, क्योंकि अधिक से अधिक २० वर्ष में यह बच्चे भी बच्चे पैदा करने लगते हैं, अर्थात् वृद्धि का क्रम चक्रवृद्धि ब्याज की दर से बढ़ता है। पहले प्रतिदिन वृद्धि का औसत १ लाख ३६ हजार ६८६ था। १ घंटे में ५ हजार ७०८ और १ मिनट में ९५ आदमी बढ़ते थे, उस हिसाब से सन् २००० में लगभग १००० करोड़, २०५० ई. में १३०० करोड़ एवं

२०६४ में १६०० करोड़ हो जाने को थी, पर अब २२५ बच्चे प्रति मिनट पैदा होते हैं, यह पहले औसत से दो गुने से भी अधिक है, अर्थात् जनसंख्या से जो विस्फोट सौ वर्ष बाद होने वाला था, वह अब इसी शताब्दी के अंत में हो जाए, तो कोई आश्चर्य नहीं।

जनसंख्या की इस तीव्रता और अभिवृद्धि के दुष्परिणामों को स्पष्ट करते हुए ऐलिनाय विश्वविद्यालय के भौतिकशास्त्री-प्रोफेसर हीजवान फोस्टेक ने लिखा है—"२०६० ई० में अर्थात् अब से लगभग ६२ वर्ष बाद मनुष्य जाति का अंत हो जायेगा, क्योंकि उस समय विश्व जनसंख्या चरम सीमा तक पहुँच जायेगी।" केलीफोर्निया औद्योगिक संस्थान के डॉ० जेम्स बोनर के अनुसार—विश्व की जनसंख्या ६ करोड़ ५० लाख प्रति वर्ष के अनुपात से बढ़ रही है, यदि यह ऐसी ही बढ़ती रही, तो अगली शताब्दी में जनसंख्या इतनी हो जायेगी कि प्रति व्यक्ति एक फुट पृथ्वी से अधिक न मिलेगी। इसका सोना, जागना, काम करना, खाना-पीना, टट्टी-पेशाब करना सब कुछ इतने में ही होगा। स्पष्ट है कि स्थिति आने से पूर्व ही विस्फोट हो और मनुष्य, मनुष्य को ही खा जायें।

लंदन के प्रसिद्ध स्वास्थ्य विशेषज्ञ ने ब्लैकपूल में स्वास्थ्य कांग्रेस की रॉयल सोसायटी में एक निबंध पढ़ा, जिसमें उन्होंने बताया "सन् २०५० अर्थात् अगले बावन वर्षों में संसार की दशा महाप्रलय जैसी हो जायेगी। उस समय यह जनसंख्या बढ़कर तेरह अरब हो जायेगी।" भारतवर्ष में प्रति घंटा ग्यारह सौ की जनसंख्या वृद्धि होती है। प्रतिवर्ष एक करोड़ बीस लाख लोग बढ़ जाते हैं, केरल जैसे छोटे प्रांत में सन् १६७६ तक २४३४७००० हो गई थी, यहाँ प्रतिदिन पंद्रह सौ नये शिशु जन्म लेते हैं।

■ इन्हीं दिनों क्यों ?

ऊपर उल्लिखित आँकड़ों से जनसंख्या का प्रलयंकारी विस्फोट इन्हीं दिनों होने की बात कही गयी है और बताया गया है कि पहले कभी ऐसा नहीं हुआ था। इसका क्या कारण है ? संतानें

पहले भी जन्म लेती थीं; पर प्रकृति से जूझने के उतने समर्थ साधन हाथ में न होने से मृत्यु-संख्या भी अधिक थी। दुर्भिक्षों, महामारियों तथा अन्य प्रकृति-प्रकोपों से असंख्य मनुष्य मरते थे। वासनात्मक प्रवृत्तियाँ उग्र न होने से संतान भी सीमित ही होती थीं। विधुर और विधवाएँ निवृत्त-जीवन जीते थे। अब किशोरावस्था आने से पूर्व ही मस्तिष्क गृहस्थ-धर्म का उपभोग करने के लिए प्रशिक्षित हो जाता है। वासना भड़काने वाली फिल्में, पुस्तकें तथा तस्वीरें बेहिसाब बढ़ रही हैं। कानाफूसी में प्रायः वही चर्चाएँ रहती हैं, जो देखा-सुना जाता है, उसमें भावुकता भड़काने वाली प्रेरणाओं की भरमार होती है। इन परिस्थितियों में प्रजनन का अनुपात बढ़ना स्वाभाविक है। दूसरी ओर विज्ञान की प्रगति ने ऐसी व्यवस्था बना दी है कि भूखों मरने अथवा प्रकृति-प्रकोप से दम तोड़ने की संभावनाएँ कम ही रह गई हैं। बीमारियाँ सताती बहुत हैं; पर उन्होंने भी मारने का उत्साह ढीला कर दिया है। दूसरी ओर बढ़ी हुई जनसंख्या द्वारा नई पीढ़ियों का उत्पादन-चक्रवृद्धि दर से हो रहा है। १ के ३, ३ के ६, ६ के २७, २७ के ८१, ८१ के २४३, २४३ के ७२६, ७२६ के २१८७, २१८७ के ६५६१।

एक व्यक्ति की तीन संतानें होती चलें, तो सातवीं पीढ़ी पर ६५६१ बच्चे हो जायेंगे। यही क्रम आगे बढ़ता रहा, तो संख्या न जाने कहाँ से कहाँ पहुँचेगी ? इस क्रम में कुछ रोकथाम भी होती है, पर बढ़ोत्तरी का अनुपात इतना तीव्र है कि निकट भविष्य में मनुष्यों के निवास, आहार के लिए जमीन खाली न बचेगी। पानी की कमी पड़ेगी और शिक्षा, व्यवसाय, यातायात आदि के लिए जगह न रहेगी। ऐसी दशा में स्वभावतः वर्तमान धरती के अपर्याप्त होने पर नये स्थान तैयार करने होंगे।

■ जनसंख्या और उत्पादन

इस बेतहाशा वृद्धि को देखकर माल्थस को चिंता हुई थी और उन्होंने जनसंख्या पर एक सुविख्यात शोध कार्य किया था, जो

आज सारे विश्व में 'माल्थस का जनसंख्या सिद्धांत' (माल्थस थ्योरी) के नाम से प्रसिद्ध है। माल्थस ने जनसंख्या वृद्धि की गंभीरता का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है—जनसंख्या गुणोत्तर क्रम (ज्योमेट्रिकल प्रोग्रेशन) की दर से अर्थात् १ से २। २ से ४। ४ से ८। ८ से १६। १६ से ३२। ३२ से ६४। ६४ से १२८ के हिसाब से बढ़ती है, जबकि उत्पादन समांतर क्रम (अरिथमेटिकल प्रोग्रेशन) अर्थात् १, २, ३, ४, ५, ६, ७ के हिसाब से बढ़ता है। इस हिसाब से पहले वर्ष १ व्यक्ति था, तब उसके लिए १ यूनिट अन्न की आवश्यकता थी, जो उसके उदर-पोषण के लिए पर्याप्त था। तीसरे वर्ष व्यक्ति हो गये ८, पर अन्न उत्पादन की यूनिट ३ ही रही। पाँच व्यक्तियों के लिए अन्न का जो दबाव पड़ेगा, उसके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, वस्त्र, मकान और मनोरंजन आदि के साधनों में कटौती करके भरण-पोषण की समस्या पूरी करनी पड़ेगी। प्रत्येक अगले वर्ष यह जटिलता बढ़ती ही जायेगी। ७ वर्ष बाद जहाँ खाने के लिए जनसंख्या १२८ होगी, वहाँ उत्पादन कुल ७ ही यूनिट होगा। तात्पर्य यह है कि १२१ व्यक्ति बेरोजगारी, भुखमरी, बीमारी और निरक्षरता की समस्या से जन्मजात पीड़ित होंगे। उत्पादन का यह अनुपात अन्न के क्षेत्र में ही नहीं, वस्त्र आदि आत्म-सुरक्षा और आत्म-विकास के क्षेत्र में भी होगा। इस तरह संकट प्रत्येक क्षेत्र में बढ़ेंगे। बेरोजगारी, भुखमरी, अशिक्षा और अनुशासनहीनता का वह स्वरूप आज स्पष्ट देखा जा सकता है।

संभवतः इन आँकड़ों के आधार पर ही डॉ० वी० आर० सेन (जो पहले भारत के खाद्य मंत्रालय के सचिव थे, सन् १९६६ में जो संयुक्त राष्ट्र के खाद्य एवं कृषि संगठन के महानिदेशक नियुक्त हुए थे) ने कहा था—"यह माना गया है कि संसार में तब तक स्थायी शांति और सुरक्षा कायम नहीं हो सकती, जब तक भुखमरी और अभाव को खत्म न कर दिया जाये। वस्तुतः व्यक्तियों का स्वास्थ्य और सुख ही नहीं, वरन् स्वतंत्र एवं लोकतंत्री समाज का अस्तित्व भी खतरे में है। अगले ३४ वर्ष मानवीय इतिहास में

अत्यधिक नाजुक होंगे। या तो हम उत्पादकता बढ़ाने और जनसंख्या न बढ़ने देने के लिए सब संभव प्रयत्न कर लें, अन्यथा हमें अभूतपूर्व रूप से विशाल विपत्ति का सामना करना होगा।"

यह कथन शेखचिल्ली के विवाह की कल्पना नहीं, वरन् एक सत्य है, जो हमें आगामी दिनों किसी भयंकर विस्फोट के लिए तैयार रहने को सावधान करता है। प्रकृति के कोष में सीमित सामग्री है। वह असीमित लोगों के पेट नहीं भर सकती। इसलिए उसने एक सिद्धांत बना लिया है कि जो जातियाँ दीवाली में आतिशबाजी के साँप की तरह बढ़ती हैं, उनको नष्ट किया जाता रहे। मक्खी और मछलियाँ संसार में सबसे अधिक बच्चे पैदा करती हैं। यदि प्रकृति भी उनका संहार तेजी से न करती, तो आज इन मक्खियों और मछलियों के रहने के लिए १० करोड़ ऐसी ही धरतियों की आवश्यकता पड़ती, जैसी अपनी पृथ्वी है।

■ फिर क्या होगा

माल्थस ने इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही यह चेतावनी दे दी थी कि जनसंख्या वृद्धि की वर्तमान दर पर अविलंब रोक लगाई जानी चाहिए, अन्यथा मानवता भयंकर प्राकृतिक दुष्परिणामों के लिए तैयार रहे। जनसंख्या वृद्धि ज्यामितीय गणना के अनुसार अर्थात् ७७ में १, ७८ में २, ७९ में ४ और ८० में ८ की दर से बढ़ती है, तो अन्न उत्पादन तमाम सिंचाई साधनों के विकास, रासायनिक खाद की मात्रा बढ़ाकर अधिकतम भूमि कृषि योग्य बनाकर भी यदि बढ़ाई जाती है, तो उत्पादन गणितीय गणना से अर्थात् ७७ में १, ७८ में २, ७९ में ३ तथा ८० में ४ मात्र इसी गति से बढ़ेगा एवं एक स्थिति वह आ जायेगी, जब वह विराम तक भी पहुँच जायेगा, उस समय क्या होगा ?

तब प्रकृति का 'संहारक सिद्धांत' प्रारंभ होगा। माल्थस ने बताया यदि मनुष्य जनसंख्या रोकने के लिए विवेक से काम नहीं लेता, तो फिर प्रकृति अर्थात्—स्वयं संभूत समस्याएँ स्वतः ही

सर्वनाश पर उतारू हो जायेंगी। अच्छा तो यह है कि लोग संयमशील जीवन जियें, पर यदि वैसा संभव नहीं, तो जन्म निरोध के कृत्रिम साधन भी बुरे नहीं—इतने पर भी यदि मनुष्य अपनी जिद पर अड़ा रहता है, तो उसे अभी से युद्ध पूर्व के युद्धाभ्यास की तरह विनाश के लिए तैयार हो जाना चाहिए।

लोंबोक इंडोनेशिया का एक द्वीप है। वहाँ सन् १९६६ में अकाल पड़ गया। वहाँ के निवासियों ने पौधों की छाल, घोंघें, घास, शैवाल आदि खाकर जीवन रक्षा के बहुतेरे प्रयत्न किये, तथापि ६ माह में दस हजार आदमी कराल भूख की ज्वाला में जलकर नष्ट हो गये। यह तब हुआ जब समस्त पृथ्वी के संपर्क साधन बहुत विकसित हैं और एक देश को दूसरे देशों से संवेदना, सहायता मिल जाती है; पर जब हर कोई उसी समस्या से पीड़ित होगा, तो कोई किसी की सहायता नहीं करेगा। उलटे माल्थस सिद्धांत के अनुसार—तब लोग एक किलो मक्के का आटा प्राप्त करने के लिए दस आदमियों की हत्या करने में भी नहीं हिचकेंगे।

भूख की समस्या पर प्रकाश डालते हुए, इसी वर्ष १९६६ में विश्व-संगठन (यू० एन० ओ०) के सेक्रेटरी जनरल यू थांट ने अपनी एक रिपोर्ट में बताया था कि भारतवर्ष में प्रतिवर्ष २ लाख बच्चे केवल इसलिए मर जाते हैं, कि उन्हें पोषण की प्रारंभिक सुविधाएँ ही नहीं उपलब्ध हो पातीं। अन्न का उत्पादन सीमित हो और खाने वालों की संख्या बढ़ रही हो, तो यह स्थिति और भी भयंकर रूप धारण कर सकती है।

अन्न में अकेले आदमी ही हकदार नहीं है, डकैत भी उसे लूटते हैं, यह डकैत हैं चूहे। १९६६ की जनगणना के समय भारतवर्ष में १ अरब ६० करोड़ चूहे थे। प्रति चूहा प्रतिवर्ष दस पौंड भी अनाज चोरी करता हो, तो ८ अरब क्विंटल के लगभग अनाज तो यही खाये बिना न मानेंगे, तब फिर स्वभावतः मनुष्य इन पर गुस्सा उतारेगा और जंगली जानवरों को खाना शुरू करेगा। यों भी जंगल समाप्त होते ही जीव वैसे ही अस्तित्वहीन हो जायेंगे, तब

फिर आदमी, आदमी को खायेगा, चाहे वह प्रत्यक्ष हो या अप्रत्यक्ष। अराजकता के रूप में उसके प्रारंभिक चरण (१) भुखमरी, (२) बेरोजगारी, (३) आवास समस्या और (४) अराजकता के लक्षण अभी से उभरने लगे हैं। सूर्योदय से पूर्व की ऊषा जिस तरह सूर्यागमन का बोध कराती है, उसी तरह यह समस्याएँ आगामी जनसंख्या विस्फोट के ही पूर्व अध्याय हैं। यदि मनुष्य अभी भी विवेक से काम नहीं लेता, तो फिर प्रकृति ही कब तक चुपचाप बैठेगी ?

अर्थशास्त्री आर्थर सी० क्लार्क, प्रो० चार्ल्स बक और मिस्टर फुलर ने अगली शताब्दी के लिए जो विश्व-योजना बनाई है, उसमें जनसंख्या वृद्धि को प्रथम स्थान दिया गया है और उसके अनुरूप साधनों की उपलब्धि में वर्तमान तथा भावी वैज्ञानिक उपलब्धियों को पूरी तरह नियोजित करने का कार्यक्रम बनाया है। उनके कथनानुसार अगली शताब्दी में मांस का उत्पादन बंद हो जायेगा, क्योंकि वह बहुत महँगा पड़ेगा। एक पौंड मांस तैयार करने में प्रायः २० पौंड चारा खर्च होता है। इतनी वनस्पति खर्च करके, इतना कम मांस उत्पन्न करना सरासर घाटे का सौदा है। इसके लिए उपजाऊ जमीन की इतनी शक्ति बर्बाद नहीं की जा सकती, जो चारा, भूसा, इमारती लकड़ी अथवा कागज, गत्ता जैसी चीजें बनाने के लिए काम आकर जरूरी आवश्यकताओं को पूरी करेगी, उन्हें जानवरों को खिलाना और फिर मांस उत्पन्न करना सरासर फिजूलखर्ची है। गिनी-चुनी बहुत दूध देने वाली गायों के लिए जगह और खुराक बचाई जा सके—यही क्या कम है ? यह भी तब हो सकेगा, जब मनुष्यों को स्थान तथा खुराक संबंधी कटौती के लिए तैयार किया जा सके। दूध-दही तो सोयाबीन जैसी वनस्पतियाँ आसानी से बना दिया करेंगी। घी तो तेल की ही एक किस्म है। चिकनाई की जरूरत तेल से पूरी हो ही सकती है, फिर घी की क्या जरूरत ? तेल में प्रोटीन तथा बैक्टीरिया मिलाकर कृत्रिम मांस आसानी से तैयार हो सकता है, फिर पशु-मांस के जंजाल में

उलझने की लंबी और महँगी प्रक्रिया अपनाने की कोई आवश्यकता ही न रहेगी। फ्रांस में कृत्रिम मांस बनाने में सफलता प्राप्त कर ली गई है, आगे तो वह विधि और भी सरल तथा समुन्नत हो जायेगी।

सड़कें बहुत जमीन घेरती हैं और वे जहाँ भी पक्की हो जाती हैं, जमीन की उर्वरा शक्ति नष्ट कर देती हैं। इन दिनों सड़कों ने जितनी जमीन घेर रखी है और भविष्य में घेरने जा रही हैं, उस भूमि-विनाश पर गंभीरता से विचार करना होगा। सड़कें या तो जमीन के नीचे बनेंगी, या फिर सस्ते वायुयान यातायात तथा परिवहन की आवश्यकता पूरी करेंगे। सड़कों से घिरी जमीन पर पौष्टिक किस्म की बड़ी फसलें देने वाली और साल में जल्दी-जल्दी कई बार कटने वाली घासें लगाई जायेंगी। वनस्पति को पूरा ही आहार प्रयोजन के लिए काम में लाना पड़ेगा, तभी आदमी का पेट भरेगा। इन दिनों अन्न खाने की जो आदत है, वह उस समय छोड़नी ही पड़ेगी। अनाज के पौधे का आकार-विस्तार जितना होता है, उसकी तुलना में बीज का अनुपात बहुत थोड़ा रहता है। फसलों का अधिकांश भाग भूसे के रूप में चला जाता है। अभी तो भूसे-चारे को पशु भी खा लेते हैं, आगे पशु रहेंगे ही नहीं, तो चारे की उपयोगिता भी नहीं रहेगी। ऐसी दशा में पूरी घास खाने की आदत डालनी पड़ेगी। आखिर अन्य शाकाहारी प्राणी भी तो घास खाकर ही रहते हैं, फिर मनुष्य को ही इसमें क्यों ऐतराज होना चाहिए ? घास में प्रोटीन तथा दूसरे जीवनोपयोगी तत्त्व पर्याप्त मात्रा में मौजूद हैं। घास का चूरा आटे का काम दे सकता है। जरूरत के अनुसार उसमें दूसरी चीजें भी मिलाई जा सकती हैं, पर आटा बनेगा घास का ही। अनाज का प्रचलन भी अगले दिनों पशु-मांस की तरह ही बहिष्कृत करना पड़ेगा। नकली दूध, नकली दही, नकली घी, नकली मांस आदि, जब सभी खाद्य पदार्थ कृत्रिम बनने लगेंगे, तो अनाज का आटा खाने के लिए ही कोई क्यों आग्रह करेगा ? कुछ दिन में लोग घास का आटा खाने के लिए तैयार हो ही जायेंगे। न होंगे, तो वैसा मजबूरी करा लेगी।

मनुष्यों को स्वच्छ साँस मिलती रहे, इसके लिए वृक्ष आवश्यक है। २५ वर्ग फुट जमीन में एक आदमी को साँस ले सकने के उपयुक्त वायु मिलती है। इसलिये खुली जगह में वृक्ष-उद्यानों का प्रबंध करना पड़ेगा। तब सड़कों का ही सफाया नहीं करना पड़ेगा, मकान भी कई-कई मंजिल ऊँचे बना करेंगे। एक मंजिल मकान कहीं दिखाई नहीं पड़ेंगे। निवास-आवास में घिरने वाली जमीन तो बचानी ही पड़ेगी। वनस्पति उगाने के लिए यह आवश्यक होगा कि मकानों में उसे अधिक न घेरा जाय। यह समस्या अनेक मंजिल ऊँचे मकान बनाने के प्रचलन से ही संभव हो सकेगी।

घास के आहार को अधिक पौष्टिक बनाने के लिए उसमें प्रोटीन के नये स्रोत सम्मिलित करने पड़ेंगे। एककोशीय यीस्ट—जीवाणु (बैक्टीरिया), कवक (फफूँद), शैवाल इनमें प्रमुख होंगे। प्रचलित तेल प्रधान वनस्पतियों में मूँगफली, सोयाबीन, नारियल और बिनौले का सम्मिश्रण खाद्य पदार्थों में मिला दिया जाए, तो घास का आटा प्रचलित गेहूँ के आटे से कहीं अधिक पौष्टिक और स्वादिष्ट बन जायेगा। गेहूँ में १०-१२ प्रतिशत, चावल में ८-६ प्रतिशत और मांस-मछली में २०-२२ प्रतिशत प्रोटीन होता है। इस दकियानूसी आहार को हटाकर प्रोटीन के नये स्रोतों का उपयोग करने से सहज ही कहीं अधिक पौष्टिकता मिल जायेगी। यीस्ट में ५५ प्रतिशत, बैक्टीरिया में ८० प्रतिशत, फफूँद में ४० प्रतिशत और शैवालों में २५ प्रतिशत प्रोटीन होता है। ऐसी दशा में उनका उपयोग करने से समस्या का बहुत समाधान निकलेगा।

पेट्रोलियम के कारखानों से उप-उत्पादन के रूप में मिलने वाले सूक्ष्म जीवाणुओं से अच्छा प्रोटीन विनिर्मित करने में फ्रांसीसी-विज्ञानी चेंपेटन ने आशाजनक सफलता प्राप्त की है। एककोशीय प्रोटीन-मांस उत्पादन पर आने वाली लागत की तुलना में ढाई हजार गुना सस्ता पड़ता है और कम समय लेता है। ऐसी दशा में उसका आश्रय मनुष्य को लेना ही पड़ेगा। समुद्री-वनस्पति

क्लोरिला का जापान में खाद्य पदार्थ के रूप में उपयोग करने का प्रचलन है। इंग्लैंड घास से प्रोटीन बनाने में लगा हुआ है। सोयाबीन का दूध गौ-दूध की आवश्यकता पूरी कर सकेगा—यह विश्वास खाद्य-शोधकों में अभिनव-आशा का संचार कर रहा है। एक किलो सोयाबीन से १० लीटर दूध बनने की संभावना में सस्तेपन का आकर्षण भी बहुत है। गुणों में तो उसे समान ही बताया जा रहा है।

भोजन पकाने की प्रणाली में भारी हेर-फेर करना पड़ेगा। कच्चा राशन रखने, पकाने के लिए—चौका-चूल्हा बनाने, पकी हुई वस्तुओं को सुरक्षित रखने के लिए जितने स्थान की अब जरूरत पड़ती है, भविष्य में उतनी जगह की बरबादी नहीं की जा सकेगी। अन्न, शाक आदि के उत्पन्न होते ही बड़े कारखानों में तैयार भोजन के रूप में तैयार किया जायेगा और उस सूखे सार-तत्त्व को पैकिटों में बंद कर दिया जायेगा। चूँकि भोजन में नब्बे प्रतिशत पानी होता है, इसलिए सूखे सार भोजन में आवश्यकतानुसार पानी मिलाकर अँगीठी पर गरम कर लिया जाया करेगा। बस, दस मिनट में भोजन तैयार है। इससे स्थान की ही नहीं, बनाने और पकाने के समय की भी बचत होगी।

पहाड़ समतल बनाने पड़ेंगे। पथरीली जमीन जो कृषि योग्य नहीं बन सकेगी, वह निवास और कल-कारखानों के काम में ली जायेगी, शहर-गाँव उसी पर बसेंगे। पहाड़ों का चूरा करके इमारती ईंट-पत्थर, सीमेंट आदि बनेंगे, ताकि इन कार्यों में उपजाऊ जमीन का एक चप्पा भी बर्बाद न किया जाए। लकड़ी की जगह प्लास्टिक अथवा कृत्रिम धातुओं का उपयोग करके मकानों की आवश्यकता पूरी की जायेगी।

अमेरिका के विज्ञान लेखक आइजक आसिमोव ने आँकड़ों सहित बताया है कि बढ़ती हुई आबादी के कारण अगले बीस वर्षों में जो संकट उत्पन्न होंगे, उनमें जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं में कमी पड़ने का संकट मुख्य है। वायु, जल और आहार यह तीनों ही वस्तुएँ ऐसी हैं, जिनके आधार पर मनुष्य जीवित रहता है।

बढ़ती हुई आबादी के लिए अगले दिनों यह तीनों ही न तो शुद्ध मिलेंगी और न पर्याप्त मात्रा में।

इतने पर भी जनसंख्या वृद्धि के कारण उत्पन्न होने वाली समस्याओं का समाधान नहीं हो सकेगा। जनसंख्या वृद्धि का एक भयंकर दुष्परिणाम खाद्य समाप्ति के अभाव के रूप में तो सामने आयेगा ही, पीने योग्य पानी की भी कमी होने लगेगी।

■ जब हमें प्यासे रहना होगा

संसार में एक ओर जनसंख्या की वृद्धि हो रही है, दूसरी ओर कल-कारखाने और उद्योग-धंधे बढ़ रहे हैं। इन दोनों ही अभिवृद्धियों के लिए पेयजल की आवश्यकता भी बढ़ती चली जा रही है। पीने के लिए, नहाने के लिए, कपड़े धोने के लिए, रसोई एवं सफाई के लिए हर व्यक्ति को, हर परिवार को पानी चाहिए। जैसे-जैसे स्तर ऊँचा उठता जाता है, उसी अनुपात से पानी की आवश्यकता भी बढ़ती है। खाते-पीते आदमी अपने निवास स्थान में पेड़-पौधे, फल-फूल, घास-पात लगाते हैं, पशु पालते हैं। इन सबके लिए पानी की माँग और बढ़ती है। गर्मी के दिनों में तरावट और छिड़काव के लिए पानी चाहिए।

कल-कारखाने निरंतर पानी माँगते हैं। जितना बड़ा कारखाना, उतनी बड़ी पानी की माँग। भाप से चलने वाली रेलगाड़ियाँ तथा दूसरी मशीनें पानी की अपेक्षा करती हैं। शोधन-संशोधन ढेरों पानी लेता है। शहरों में फ्लश के पाखाने, सीवर लाइनें तथा नाली आदि की सफाई के लिए अतिरिक्त पानी की जरूरत पड़ती है। कृषि और बागवानी का सारा दारोमदार ही पानी पर ठहरा हुआ है। हरियाली एवं वन संपदा पानी पर ही जीवित हैं। पशु पालन में चारा-पानी अनिवार्य रूप में चाहिए और भी न जाने कितने ज्ञात-अज्ञात आधार हैं, जिनके लिये पानी की निरंतर जरूरत पड़ती रहती है।

यह सारा पानी बादलों से मिलता है। पहाड़ों पर जमने वाली बर्फ, जिसके पिघलने से नदियाँ बहती हैं, वस्तुतः बादलों का ही अनुदान है। सूर्य की गर्मी से समुद्र द्वारा उड़ने वाली भाप बादलों के रूप में भ्रमण करती है। उनकी वर्षा से नदी-नाले, कुएँ, तालाब, झरने-सोते बनते हैं। उन्हीं से उपरोक्त आवश्यकताएँ पूरी होती हैं। जनसंख्या वृद्धि के साथ-साथ वृक्ष वनस्पतियों की, अन्न, शाक, पशु वंश की, कल-कारखानों की जो वृद्धि होती चली जा रही है, उसने पानी की माँग को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ा दिया है। यह माँग दिन-दिन अधिकाधिक उग्र होती जा रही है। बादलों के अनुदान से ही अब तक सारा काम चलता रहा है। सिंचाई के साधन नदी, तालाब, कुँओं से ही पूरे किये जाते हैं। इनके पास जो कुछ है, बादलों की ही देन है। स्पष्ट है कि बादलों के द्वारा जो कुछ दिया जा रहा है, वह आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कम पड़ता है। संसार भर में पेयजल अधिक मात्रा में प्राप्त करने की चिंता व्याप्त है, ताकि मनुष्यों की, पशुओं की, वनस्पतियों की, कारखानों की आवश्यकता को पूरा करते रहना संभव बना रहे।

बादलों पर किसी का नियंत्रण नहीं। वे जब चाहें जितना पानी बरसायें। उन्हें आवश्यकता पूरी करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है। वे बरसते भी हैं, तो अंधाधुंध बेहिसाब। वर्षा में वे इतना पानी फैला देते हैं कि पृथ्वी पर उसका संग्रह कर सकना संभव नहीं होता और वह बहकर बड़ी मात्रा में समुद्र में जा पहुँचता है। इसके बाद शेष आठ महीने आसमान साफ रहता है। गर्मी के दिनों में तो बूँद-बूँद पानी के लिए तरसना पड़ता है। इन परिस्थितियों में मनुष्यों को जल के अन्य साधन-स्रोत तलाश करने के लिए विवश होना पड़ रहा है, अन्यथा कुछ ही दिनों में जल संकट के कारण जीवन दुर्लभ हो जायेगा। गंदगी बहाने, हरियाली उगाने और स्नान-रसोई के लिए भी जब पानी कम पड़ जायेगा, तो काम कैसे चलेगा ? कल-कारखाने किसके सहारे अपनी हलचल जारी रखेंगे ?

अमेरिका की आबादी लगभग तीस करोड़ है। वहाँ कृषि एवं पशुपालन में खर्च होने वाले पानी का खर्च प्रति मनुष्य के पीछे प्रतिदिन तेरह हजार गैलन आता है। घरेलू कामों में तथा उद्योगों में खर्च होने वाला पानी भी लगभग इतना ही बैठता है। इस प्रकार वहाँ हर व्यक्ति के पीछे २६ हजार गैलन पानी की नित्य जरूरत पड़ती है। यहाँ की आबादी विरल और जल स्रोत बहुत हैं, तो भी चिंता की जा रही है, कि आगामी शताब्दी में पानी की आवश्यकता एक संकट के रूप में सामने प्रस्तुत होगी।

भारत की आबादी अमेरिका की तुलना में लगभग तीन गुनी अधिक है, किंतु जल साधन कहीं कम हैं। बड़े शहरों में अकेले मुंबई को ही लें, तो वहाँ की जरूरत ३५ करोड़ गैलन हो पाती है। यही दुर्दशा न्यूनाधिक मात्रा में अन्य शहरों की है। देहाती क्षेत्र में अधिकांश कृषि उत्पादन वर्षा पर निर्भर है। जिस साल वर्षा कम होती है, उस साल भयंकर दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ता है। मनुष्यों और पशुओं की जान पर बन आती है। यदि इन क्षेत्रों में मानव उपार्जित जल की व्यवस्था हो सके, तो खाद्य समस्या का समाधान हो सकता है।

नये जल-आधार तलाश करने में दृष्टि समुद्र की ओर ही जाती है। धरती का दो-तिहाई से भी अधिक भाग समुद्र से डूबा पड़ा है; किंतु वह है खारा। जिसका उपयोग उपरोक्त आवश्यकताओं में से किसी की भी पूर्ति नहीं कर सकता। इस खारे जल को पेय किस प्रकार बनाया जाय, इसी केंद्र पर भविष्य में मनुष्य जीवन की आशा इन दिनों केंद्रीभूत हो रही है।

इस संदर्भ में राष्ट्रसंघ ने एक आयोग नियुक्त किया था, जिसने संसार के ४६ प्रमुख देशों में दौरा करके जल समस्या और उसके समाधान के संबंध में विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की है। इस रिपोर्ट का सारांश राष्ट्रसंघ ने प्रगतिशील देशों में 'खारे पानी का शुद्धीकरण' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है, जिसमें प्रमुख सुझाव यही है कि समुद्री जल के शुद्धीकरण पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। यों वर्षा के जल को समुद्र

में जाने से रोकने के लिए तथा जमीन की गहराई में बहने वाली अदृश्य नदियों का पानी ऊपर खींच लाने को भी महत्त्व दिया गया है और कहा गया है कि बादलों के अनुदान तथा पर्वतीय बर्फ के रूप में जो जल मिलता है, उसका भी अधिक सावधानी के साथ सदुपयोग किया जाना चाहिए।

उत्तर और दक्षिण ध्रुव-प्रदेशों के निकटवर्ती देशों के लिए एक योजना यह है कि उधर समुद्र में सैर करते-फिरने वाले हिम पर्वतों को पकड़ कर पेय जल की आवश्यकता पूरी की जाए, तो यह अपेक्षाकृत सस्ता पड़ेगा और सुगम रहेगा। संसार भर में जितना पेयजल है, उसका ८० प्रतिशत भाग ध्रुव-प्रदेश एंटार्कटिक के हिमावरण (आइसकैप) में बँधा पड़ा है। इस क्षेत्र में बर्फ के विशालकाय खंड अलग होकर समुद्र में तैरने लगते हैं और अपना आकार हिम द्वीप जैसा बना लेते हैं। वे समुद्री लहरों और हवा के दबाव से इधर-उधर सैर-सपाटे करते रहते हैं। दक्षिण ध्रुव के हिम पर्वतों को गिरफ्तार करके दक्षिण अमेरिका, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका में पानी की आवश्यकता पूरी करने के लिए खींच लाया जा सकता है। इसी प्रकार उत्तर ध्रुव के हिम पर्वत एक बड़े क्षेत्र की आवश्यकता पूरी कर सकते हैं, यद्यपि उसमें संख्या कम मिलेगी।

अमेरिका के हिम विज्ञानी डॉ० विलियम कैंबेल और डॉ० विल्फर्ड वीकस ने इसी प्रयोजन के लिए कैंब्रिज, इंग्लैंड में बुलाई गई एक अंतर्राष्ट्रीय गोष्ठी—इंटरनेशनल सिंपोजियम आन दि हाइड्रोलॉजी ऑफ ग्लेशियर्स में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए कहा था—हिम पर्वतों को पकड़ने की योजना को महत्त्व दिया जाना चाहिए, ताकि पेयजल की समस्या को एक हद तक सस्ता समाधान मिल सके।

भू-उपग्रहों की सहायता से फोटो लेकर यह पता लगाया जा सकता है, कि किस क्षेत्र में कैसे और कितने हिम पर्वत भ्रमण कर रहे हैं ? इन पर्वतों का ८३ प्रतिशत भाग पानी में डूबा रहता है और शेष १७ प्रतिशत सतह से ऊपर दिखाई पड़ता है। इन्हें पाँच

हजार मील तक घसीटकर लाया जा सकता है। इतना सफर करने में उन्हें चार-पाँच महीने लग सकते हैं।

ढुलाई का खर्चा और सफर की अवधि में अपेक्षाकृत गर्म वातावरण में बर्फ का पिघलने लगना—यह दो कारण यद्यपि चिंताजनक हैं, तो भी कुल मिलाकर वह पानी उससे सस्ता ही पड़ेगा, जितना कि हम जमीन पर रहने वालों को औसत हिसाब से उपलब्ध होता है।

हिसाब लगाया गया है कि ऐमेरी से आस्ट्रेलिया तक ढोकर लाया गया हिम पर्वत दो-तिहाई गल जायेगा और एक-तिहाई शेष रहेगा। रास से दक्षिण अमेरिका तक घसीटा गया हिम पर्वत १४ प्रतिशत ही शेष रहेगा। धीमी चाल से घसीटना अधिक लाभदायक समझा गया है, ताकि लहरों का प्रतिरोध कम पड़ने से बर्फ की बर्बादी अधिक न होने पाये। ७-८ हजार हार्सपावर का एक टग जलयान आधा नाट की चाल से उसे आसानी के साथ घसीट सकता है। अपने बंदरगाह से चलकर हिम पर्वत तक पहुँचने और वापस आने में जो खर्च आयेगा और फिर उस बर्फ को पिघलाकर पेयजल बनाने में जो लागत लगेगी, वह उसकी अपेक्षा सस्ती ही पड़ेगी, जो म्युनिसपेलिटियाँ अपने परंपरागत साधनों से जल प्राप्त करने में खर्च करती हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि बर्फ का जल, डिस्टिल्ड वाटर स्तर का होने के कारण स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी, स्वच्छ और हानिकारक तत्त्वों से सर्वथा रहित होगा। उसके स्तर को देखते हुए यदि लागत कुछ अधिक हो, तो भी उसे प्रसन्नतापूर्वक सहन किया जा सकता है।

दूसरा उपाय यह सोचा गया है कि समुद्र के किनारे अत्यंत विशालकाय अणु भट्टियाँ लगाई जाएँ, उनकी गर्मी से कृत्रिम बादल उत्पन्न किये जाएँ, उन्हें ठंडा करके कृत्रिम नदियाँ बहाई जायें और उन्हें रोक-बाँधकर पेयजल की समस्या हल की जाए।

तीसरा उपाय यह है कि वर्षा का जल नदियों में होकर समुद्र में पहुँचता है, उसे बाँधों द्वारा रोक लिया जाए और फिर उनसे पेय जल की समस्या हल की जाए।

दूसरे और तीसरे नंबर के उपाय जोखिम भरे हैं। अत्यधिक गर्मी पाकर समुद्री जलचर मर जायेंगे, तटवर्ती क्षेत्रों का मौसम गरम हो उठेगा और ध्रुव प्रदेशों तक उस गर्मी का असर पहुँचने से जल प्रलय उत्पन्न होगा और धरती का बहुत बड़ा भाग जलमग्न हो जायेगा। इतनी बड़ी अणु भट्टियाँ अपने विकरण से और भी न जाने क्या-क्या उपद्रव खड़े करेंगी ? तीसरे उपाय से यह खतरा है कि जब समुद्रों में नदियों का पानी पहुँचेगा ही नहीं, तो वे सूखने लगेंगे। खारापन बढ़ेगा और उस भारी पानी से बादल उठने ही बंद हो जायेंगे, तब नदियों का पानी रोकने से भी क्या काम चला ? ध्रुवों के घुमक्कड़ हिम द्वीप भी बहुत दूर तक नहीं जा सकते। उनका लाभ वे ही देश उठा सकेंगे, जो वहाँ से बहुत ज्यादा दूर नहीं हैं।

उपरोक्त सभी उपाय अनिश्चित एवं अधूरे हैं; पर इससे क्या ? पेय जल की बढ़ती हुई माँग तो पूरी करनी ही पड़ेगी। अन्यथा पीने के लिए, कृषि के लिए, कारखानों के लिए, सफाई के लिए भारी कमी पड़ेगी और उस अवरोध के कारण उत्पादन और सफाई की समस्या जटिल हो जाने से मनुष्य भूख, गंदगी और बीमारी से त्रसित होकर बेमौत मरेंगे।

यह सारी समस्याएँ बढ़ती हुई आबादी पैदा कर रही है। मनुष्य में यदि दूरदर्शिता होती, तो वह जनसंख्या बढ़ाने की विभीषिका अनुभव करता और उससे अपना हाथ रोकता; पर आज तो न यह होता दीखता है और न पेय जल का प्रश्न सुलझता प्रतीत होता है। मनुष्य को अपनी वज्र मूर्खता का सर्वनाशी दंड, आज नहीं तो कल भुगतना ही पड़ेगा। अनुमान है कि यह विषम परिस्थिति अगले दशक के अंत तक संसार के सामने गंभीर संकट के रूप में आ उपस्थित होगी।

❑❑

मनुष्येतर प्राणियों की संख्या वृद्धि

धरती पर प्राणियों के लिए सीमित संख्या में ही स्थान और साधन हैं। यदि वे अपनी संख्या बढ़ाने पर स्वेच्छापूर्वक नियंत्रण न करें, तो फिर प्रकृति को अपनी निर्मम कुल्हाड़ी चलानी पड़ेगी। इसी प्रकार लोग यदि समर्थता, पुरुषार्थपरायणता, तितिक्षा और संघर्षशीलता की अवज्ञा करके शौक-मौज का विलासी जीवन जीने लगेंगे, तो भी ऐसी अकर्मण्यता और सभ्यता जन्मेगी, जिसे प्रकृति की परिभाषा में निकम्मापन माना जाता है। विलासी, आलसी और जागरूकता रहित प्राणियों को नियति यंत्र में पिसकर नष्ट ही होना पड़ता है।

संतानोत्पादन की जो क्षमता प्राणियों को मिली है, यदि वह निर्बाध गति से चलती रही, तो एक ही प्राणी कुछ शताब्दियों में सारी धरती को घेर लेगा। हाथी को ही लें, उसकी प्रजनन गति मंद मानी जाती है। ३० वर्ष की आयु में वह पिता बनने योग्य होता है और उसकी प्रजनन शक्ति इसके बाद ६० वर्ष तक रहती है। १० वर्ष के अंतर से हथिनी माता बनती है, अर्थात् एक हाथी युगल अपने जीवन काल में ६ बच्चे देता है। इतने पर भी गणित कहता है कि यदि उसकी सारी संतानें जीवित रहें, तो ७०० वर्षों की अवधि में एक हाथी का वंश लगभग १६ लाख हो जायेगा। चक्रवृद्धि गति से यह स्वाभाविक है, आश्चर्यजनक नहीं। यह तो मंद प्रजनन अभ्यासी और सशक्त काया वाले हाथी की बात हुई। दुर्बल काया और अति प्रजनन की प्रकृति वाले पिछड़े जीवों की बात ली जाए, तो उनकी वंश-वृद्धि के परिणाम तो इतने आश्चर्यजनक होंगे कि यदि उनकी सभी संतानें बनी रहें, तो दस-बीस वर्ष में ही वे पृथ्वी को अपने वंशजों से ढक लेंगे।

पिछले दिनों एक विज्ञप्ति में विश्व-स्वास्थ्य संगठन के विशेषज्ञों ने अपना मत व्यक्त करते हुए बताया कि चूहे तथा

चुहिया के एक जोड़े से पैदा हुई संतानों से तीन वर्षों में ३५ करोड़ चूहे हो सकते हैं; लेकिन प्रकृति ऐसा होने नहीं देती। यदि चूहों की मनमानी चल सकी होती, तो तीन वर्षों में पृथ्वी पर अकेले चूहे इतने हो जाते कि चलने वाले व्यक्ति का हर अगला पाँव, एक चूहे की देह पर पड़ता। प्रकृति ने चूहों पर यह प्रतिबंध लगा दिया है कि वे प्रति वर्ष अधिक से अधिक ६० बच्चे पैदा करें। मनुष्य भी यदि इसी ढंग से बच्चे पैदा करते रहे तो एक दिन अपने आप उनकी प्रजनन शक्ति समाप्त हो जायेगी। आजकल ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं है, जो प्रजनन की क्षमता खो चुके हैं या खो रहे हैं।

मक्खी एक बार में १२० अंडे देती है। गर्मी के दिनों में वह ६ बार अंडे देती है। दस दिन में बच्चे भी निकल आते हैं और वह भी १४ दिन की आयु में प्रजनन (पावर ऑफ रिप्रोडक्शन) के योग्य हो जाते हैं। ६ पीढ़ियों में जन्मे, यदि सब बच्चों को किसी प्रकार जीवित रखा जा सके, तो वे १/४ मिलियन क्यूबिक घन फुट अर्थात् २५०००० घन फुट जगह एक मक्खी के जोड़े के बच्चों के द्वारा एक मौसम में घेरी जा सकती है। (एक घन फुट का अर्थ एक फुट लंबा, एक फुट चौड़ा और एक फुट ऊँचा स्थान होता है।) अब यदि संसार में पाई जाने वाली सब मक्खियों का हिसाब लगायें, तो मालूम पड़ेगा कि इस पृथ्वी जितनी कई पृथ्वियाँ तो केवल मक्खियों के रहने के लिए ही आवश्यक हो जायेंगी।

प्रकृति उनके लिए अपना संहार अस्त्र प्रयोग करती है। साधारण-सी सर्दी आते ही मक्खियाँ मरकर अपने आप नष्ट हो जाती हैं। मनुष्य समाज के लिए भी यह बात हो सकती है। प्रजनन की गति जितनी बढ़ेगी, मनुष्यों के स्वास्थ्य और शारीरिक क्षमतायें गिरती हुई चली जायेंगी और वे मौसम के हल्के से परिवर्तनों को भी सहन करने की स्थिति में नहीं रहेंगी, तब बीमारियाँ, नये-नये रोग इस तरह बढ़ेंगे कि असमर्थ व्यक्ति अपने आप नष्ट हो जायें, केवल वे लोग बचेंगे, जिनके स्वास्थ्य वीर्य-नाश की बीमारी से सुरक्षित हों। यदि मनुष्य अपने आप नहीं सँभलता, तो प्रकृति को विवश होकर यह सामूहिक

दंड प्रणाली मानव जाति के लिए भी लागू करनी ही पड़ेगी। आजकल बीमारियों में मृत्यु-दर की वृद्धि और नये-नये रोगों की उत्पत्ति उसी का संकेत करती है। आगे की स्थिति कितनी भयानक हो सकती है, इसकी तो कल्पना करते भय लगता है।

एक सीप (आइस्टर) एक वर्ष में ६० मिलियन (एक मिलियन = १० लाख) अंडे देती है। इस तरह एक जोड़े से पैदा होने वाली पाँच पीढ़ियों से ही जितनी सीपियाँ पैदा हो जायेंगी, उनका यदि एक स्थान पर ढेर किया जा सके, तो वह ढेर पृथ्वी के आकार से आठ गुना बड़ा होगा। कार्डफिश नामक मछली एक करोड़ अंडे देती है, यदि सभी अंडों में से बच्चे निकल आयें, तो उन्हें रहने के लिए समुद्र भी पूरा न पड़ेगा। इन्हें कम करने के लिए प्रकृति ने ऐसे शत्रु तैयार किये हैं, जो इन्हें खाते रहें, मछलियों को अनिवार्य बंध्याकरण का दंड भी भुगतना पड़ता है। यदि मनुष्य भी स्वयं सचेत न हो, तो एक दिन वह स्थिति अपने आप बन जायेगी, जब या तो जनसंख्या स्वयं एक-दूसरे को मारकर खा लेगी। युद्ध, महामारी, अकाल भी इसी के रूप हो सकते हैं या फिर स्त्रियों में बंध्यत्व बढ़ जायेगा और वे बच्चे ही पैदा न कर सकेंगी।

प्रकृति में वह जबर्दस्त समझ और शक्ति है कि वह इस शारीरिक योग्यता वाले पशु की जनसंख्या को भी अनियंत्रित नहीं होने देती। उन्हें वह हिसाब से मारती रहती है। यह उदाहरण यह बताते हैं कि यदि मनुष्य आत्म-नियंत्रण के द्वारा जनसंख्या वृद्धि के लिए तैयार नहीं होता, तब या तो उसे अप्राकृतिक परिवार नियोजन प्रणाली भक्षण करेगी अथवा प्रकृति स्वयं ही अपनी संहारक प्रक्रिया द्वारा नष्ट करके रख देगी।

■ प्रकृति का दंड विधान

इस विपत्ति से निपटने के लिए प्रकृति ने एक क्रूर कुल्हाड़ी भी तैयार रखी है, वह है समर्थ का चुनाव। जो सुयोग्य और समर्थ होते हैं, वे ही प्रकृति की विविध चुनौतियों को स्वीकार करते हुए,

संघर्ष करते हुए और उस आधार पर अपनी विकसित योग्यता का परिचय देकर जीवित बने रहते हैं। जो इस लड़ाई में हारते हैं, वे मौत के मुँह में चले जाते हैं। जो जीव जितना अधिक प्रजनन करेगा, उसकी संतानें उतनी ही दुर्बल और स्वल्पजीवी होंगी। जो इस आग से खेलने में समझदारी का उपयोग करते हैं, उन्हें काट-छाँट की कैंची उतना ही कम कष्ट देती है।

जीवन संग्राम एक ऐसी सचाई है, जिससे न तो इंकार किया जा सकता है और न बचा जा सकता है। चैन से बैठने और मौज-मजा करने की कल्पना भर कोई करता रह सकता; पर प्रकृति उसे वैसा करने नहीं देती। आलसी अपनी संघर्षशीलता वाली प्रतिभा गँवाते चले जाते हैं, फलतः समय की चुनौती से जूझने लायक क्षमता उनमें रहती ही नहीं। ऐसी दशा में अयोग्य और असमर्थ को हटाकर संसार के सौंदर्य को बनाये रखने के लिए नियति के संचालन-सूत्र, कुशल माली की तरह अपना काम करते हैं। वे इस बात की परवाह नहीं करते हैं कि उन्हें दयालु कहा जायेगा अथवा निर्दयी।

आलसी और प्रमादी वर्ग के विशालकाय प्राणी धरती पर से अपना अस्तित्व समाप्त कर बैठे। परिस्थितियों से लड़ने के लिए जिस कठोरता और सजगता की आवश्यकता है, उसे यदि अक्षुण्ण न रखा गया तो अकर्मण्यता का अभ्यस्त व्यक्ति क्रमशः दुर्बल होता चला जायेगा और फिर उसकी अनुपयोगी सत्ता को स्थिर न रखा जा सकेगा।

उत्तरी योरोप में १२५०६४ वर्गमील क्षेत्र और लगभग चार करोड़ की जनसंख्या का एक छोटा-सा देश है। उसका नाम है—"नार्वे"। नोर्डकिन्न अंतरीप इसी देश के उत्तरी तट पर स्थित है। इस अंतरीप में ६ माह तक दिन-ही-दिन बना रहता है अर्थात् सूरज चमकता है, शेष ६ माह दोपहर में भी सूरज दिखाई नहीं पड़ता।

नार्वे की प्रकृति के उक्त विलक्षण दृश्य से भी बढ़कर एक ऐसे रहस्य का उद्घाटन दिन-रात करता रहता है, जिसके लिए आज दुनिया भर के सभी देशों में पृथक् मंत्रालय खुले हुए हैं-तो भी समस्या

नियंत्रण में नहीं आती। वह विश्वव्यापी समस्या है—'जनसंख्या की असीमित वृद्धि'। जनसंख्या शास्त्रियों का अनुमान है कि प्रति वर्ष संसार की आबादी छह करोड़ पचास लाख बढ़ रही है। प्रोफेसर हीजवान फास्टर का कथन है कि १३ नवंबर, २०२६, दिन शुक्रवार को मनुष्य जाति का इसलिये अंत हो जायेगा, क्योंकि उस दिन जनसंख्या इतनी अधिक हो जायेगी कि लोगों को खड़े होने तक की जगह न रह जायेगी। डॉ० जेम्स बर्नर के आँकड़े इससे भी भयंकर हैं। लंदन की स्वास्थ्य कांग्रेस का भी कथन है कि अब से ६० वर्ष बाद संसार, जनसंख्या वृद्धि के कारण महाप्रलय के गर्भ में चला जायेगा और मनुष्य अपने आप लड़-झगड़कर, प्राकृतिक प्रकोपों द्वारा नष्ट-भ्रष्ट होकर नेस्तनाबूद हो जायेगा।

यह आँकड़े जितने सत्य हैं, जितने भयानक हैं, शुतुरमुर्ग की भाँति उतना ही मनुष्य उससे मुँह छुपाना चाहता है। कहते हैं रेगिस्तानी शुतुरमुर्ग जब अपने शिकारी को देखता है, तो भयग्रस्त होकर अपना मुँह बालू में घुसेड़कर सुरक्षित हो जाने की कल्पना करता है। इस बीच शिकारी वहाँ पहुँच जाता है और उसकी अपनी भूल के कारण ही बड़ी आसानी से उसका आखेट कर लेता है। प्रकृति मनुष्य की मूर्खता पर प्रहार करने के लिए कितनी निर्दयतापूर्वक तैयारी कर रही है, उसका दर्शन करना हो तो नार्वे जाना चाहिए और वहाँ पाये जाने वाले चूहे की-सी आकृति वाले विचित्र जंतु "लेमिंग" की जीवन-पद्धति और उसके परिणाम का अध्ययन करना चाहिए।

'लेमिंग' ठीक चूहों जैसे ही होते हैं; किंतु उसकी दुम छोटी है। इनके दो काम मुख्य हैं—एक खाते रहना, दूसरा बच्चे पैदा करते रहना। लगता है पूर्व जन्म में अधिक संतान पैदा करने वाले ही भाग-भाग कर नार्वे जाते हैं और इस जन्म में 'लेमिंग' के रूप में शरीर धारण कर अपनी विभुक्षित वासना पूरी करने का प्रयत्न करते हैं; पर उनकी यह मूर्खता ही उनके महानाश का कारण बनती है। महाप्रलय के जो संकेत प्रो० हीजवान, माल्थस,

डॉ० जेम्स बर्नर आदि ने दिये हैं, उनका जीता-जागता दृश्य नार्वे में देखा जा सकता है।

मादा लेमिंग दिन-रात बच्चे पैदा करती रहती है, फलस्वरूप कुछ ही दिनों में पहाड़ियों की पहाड़ियाँ 'लेमिंगों" से ऐसे भर जाती है, जैसे बरसात में पानी। रहने के लिए शरीर छुपाने के स्थान नहीं रहते, तो बिलबिलाते हुए इधर-उधर भागते हैं। दाँव लगता है भेड़ियों, भालू और लोमड़ियों का। वे इन्हें खा-पीकर बराबर कर देते हैं।

कई बार शत्रु भी इनकी संख्या घटा नहीं पाते, तब वे चींटों की तरह तीन-तीन, चार-चार फुट की कतार बनाकर समुद्र की ओर चल पड़ते हैं। बेचारे इतने कायर और कमजोर होते हैं कि दिन में चल भी नहीं सकते, कमजोर के लिए हर जगह दुश्मन तैयार रहते हैं। इसी भय से वे रात में चलते हैं और किसी तरह समुद्र तक पहुँच जाते हैं; पर वहाँ भी उन्हें सिवाय 'आत्महत्या' के कुछ हाथ नहीं आता। समुद्र में कूद-कूदकर अपनी जान गँवा देते हैं। थोड़े-बहुत बच जाते हैं, वह लौटकर आते हैं और फिर से प्रजनन और विनाश का यही क्रम प्रारंभ हो जाता है।

मनुष्य, प्रकृति के इस निर्दय सत्य से कुछ सीखता व सँभलता, तो दुर्गति की जो स्थिति सामने दौड़ती आ रही है, वह कम न हो जाती ?

■ बच्चे यों न बढ़ाइये

साइक्लोपटेरस नाम की मछली एक बार में ८0000 से लेकर १३६0000 तक अंडे देती है। मनुष्यों की तरह उसकी भी यह मूढ़ मान्यता है कि बच्चे सौभाग्य का प्रतीक होते हैं। अपनी इस मूर्खता के कारण ही उसका जीवन सदैव संकट में बीतता है।

मादा अपने पति की कामुक-वृत्ति का लाभ लेती है। अंडे दिये और पति को सौंपे। आप तो घूमने-फिरने निकल गई और पति महोदय पर उस तरह बोझ आ पड़ा, जैसे अंधाधुंध बच्चे करने वाले पुरुषों पर उनके भरण-पोषण, आजीविका, वस्त्र, शिक्षा आदि

का दबाव पड़ता है। न तो लड़कों को पौष्टिक आहार मिल पाता है, न विकास की समुचित परिस्थितियाँ। उसका परिवार छाती का पीपल बना उसे ही त्रास देता रहता है।

नर इस बड़े ढेर को कभी सिर, कभी पूँछ से हिलाता रहता है। फिर भी कई बार उन्हें पर्याप्त शुद्ध जल नहीं मिल पाता, आवश्यक ऑक्सीजन नहीं मिल पाती। सैकड़ों अंडे इसी में मर जाते हैं। जो बच जाते हैं, वे भी अधिकांशतः कमजोर और बीमार ही बने रहते हैं।

शक्तिशाली निर्बलों को खा जाते हैं, किसी को इसका उदाहरण देखना हो, तो बहुसंख्यक संतानों वाली इस मछली को देख ले। छोटी-छोटी मछलियाँ भी इसे चारों तरफ से सताती रहती हैं। कौवे तथा बगुले आदि पक्षी तो इसके लिए यमराज हैं। वे चोंच मार-मारकर नर को अधमरा कर देते हैं और बच्चे-बच्चे खा-पीकर बराबर कर देते हैं।

फिर भी शायद प्रकृति ने उसे इसलिये पैदा किया है कि मानो वह मनुष्य के लिए उदाहरण छोड़ना चाहती हो—देख लो ! संतान की संख्या बढ़ाने, अपनी समर्थता का बिल्कुल ध्यान न देने का यही परिणाम होता है।

इतना होने पर भी न नर मानता है और न मादा। हर तीसरे महीने फिर वही, उतने ही अंडों की फौज तैयार कर देते हैं। नर अपनी कामुकता का शिकार होता है। मादा तो फिर घूमने निकल जाती है और नर महोदय को फिर वही झंझट और संकट वाला जीवन—सबसे अधिक बच्चे पैदा करने वाला, जीवन भर भयग्रस्त, कमजोर, आपत्तियों में डूबा हुआ। उसे न कभी समुद्र में सैर का आनंद मिल पाता है, न तरह-तरह की वस्तुएँ खाने-पीने का। थोड़े ही दिन में परलोक की तैयारी करने लगता है।

कार्डफिश भी ऐसी ही मछली है, एक बार में ६०००००० अंडे देने वाली। इस मछली का ही तेल है, जो औषधियों के काम में लिया जाता है। कमजोर होने के कारण अपनी सुरक्षा भी नहीं कर पाती। सारे समुद्र में कुल पाँच होती, पर स्वस्थ और समर्थ होती तो क्योंकर यह दशा होती ?

तरबोट मछली ६०००००० अंडे देती है। बच्चे भोजन के टुकड़ों पर ऐसे लड़ते हैं, जैसे मांस के एक टुकड़े के लिए कई चीलें। यादवों की तरह का मूसल पर्व मनता है, सारे बच्चे लड़-झगड़कर मर जाते हैं। यही दशा कमजोर नस्ल वाली लिंग मछली की होती है, यह एक बार में २८०००००० अंडे देती है।

यह अनुभव करना चाहिए कि संसार में संख्या नहीं, समर्थता जीतती है। एक भेड़िया सैकड़ों बकरियों को मार डालता है। कहते हैं कि सिंह के सारे जीवन में दो ही बच्चे होते हैं; पर उसकी शक्ति और सामर्थ्य के आगे जंगल के हाथी, गैंडे जैसे भीमकाय जीव भी डरते हैं।

■ जनसंख्या वृद्धि का प्राकृतिक समाधान

पृथ्वी पर बढ़ने वाली जनसंख्या के भार को कम करने के लिए प्रकृति विभिन्न उपायों से काम लेती है। आस्ट्रेलिया में खरगोश बहुतायत से पाये जाते हैं। खरगोश होता भी शीघ्र प्रजनन करने वाला प्राणी। एक जोड़ी खरगोश से एक बार में कम-से-कम ६ बच्चे पैदा होते हैं। खरगोश जब ६ माह का होता है, तभी उसमें प्रजनन शक्ति आ जाती है। एक बार बच्चा देना आरंभ करने के बाद वह हर तीसरे माह ६ बच्चे देता चला जाता है। इस तरह वर्ष में एक जोड़े से २४ बच्चे ऐसे होते हैं, जो ६ माह बाद स्वयं भी बच्चे पैदा करने लगते हैं। ६वें महीने ३६ और बारहवें महीने ७२ और कुल मिलाकर एक जोड़े से एक वर्ष में २४ + ३६ + ७२ = १३२ खरगोश पैदा हो जाते हैं। चक्रवृद्धि ब्याज की दर से यह संख्या बढ़ती रहती है। यदि एक खरगोश ५ वर्ष जीवित रहे, तो इस अवधि में उसके परिवार की संख्या १३२ + १४४ + २८८ + ५७६ + ११५२ + २३०४ + ४६०८ + ९२१६ + १८४३२ + ३६८६४ + ७३७२८ + १४७४५६ + २९४९१२ = ५९०११२ हो जायेगी। यह एक जोड़े की पैदाइश होगी। यदि ऐसे जोड़ों की संख्या कुल बीस हो जाये, तो वहाँ खरगोशों की संख्या इस अवधि में ११८०२२४० (एक करोड़ १८ लाख दो हजार दो सौ चालीस) हो जाये।

आस्ट्रेलिया का कुल क्षेत्रफल ३० लाख वर्ग मील है और वहाँ की जनसंख्या लगभग दो करोड़ है। यदि प्रकृति ने खरगोशों को अपने ही अनुपात से बढ़ने दिया होता, तो आज आस्ट्रेलिया में खरगोश ही खरगोश होते। हरियाली का एक भी तिनका न होता। दैवयोग से आस्ट्रेलिया में मांसभक्षी जीव भी नहीं पाये जाते, इसलिये इनके अस्तित्व को वहाँ कोई खतरा भी नहीं है। खरगोशों का वहाँ एक छत्र साम्राज्य होता।

तो भी वहाँ खरगोश कम क्यों हैं ? यह जानने की उत्कंठा वैज्ञानिकों में पैदा हुई, तो जनसंख्या का अध्ययन किया। उन्होंने टेलीफोटोलेन्स (ऐसे कैमरे जो किसी स्थान पर लगा दिये जाते हैं, फोटो खींचने वाला पीछे चला आता है और दूर से ही फोटो लेता रहता है) लगाकर बड़े-बड़े समूहों के चित्र लिये। सभी चित्र बड़े मजेदार थे और यह दिखा रहे थे कि उनमें जल और अन्न के सीमित कोटे को प्राप्त करने के लिए कितनी मार-पीट होती है। आपस में ही उनके लड़-झगड़कर नष्ट होते दिखाई देने वाले यह चित्र आज भी 'आस्ट्रेलियन न्यूज एंड इन्फार्मेशन ब्यूरो' के पास सुरक्षित हैं। एक चित्र जो 'किनशिप ऑफ ऐनीमल एंड मैन' पुस्तक, जिसके लेखक मार्गन हैं, में पेज नंबर ६२ पर छपा है, बड़ा ही कौतूहलवर्द्धक है वह। एक छोटे-से गड्ढे में पानी पीने के लिए खरगोशों का समूह उमड़ पड़ा है। वे एक-दूसरे के ऊपर चढ़कर सबसे आगे पहुँचकर पानी प्राप्त करने की आपा-धापी में हैं। गड्ढा छोटा है, पानी बहुत कम। सब आपस में झगड़ते हैं, कितने ही युद्ध में मर जाते हैं, कितने ही प्यास और भूख से तड़पकर दम तोड़ देते हैं।

■ लंबा परिवार असह्य भार

इसी प्रकार अमेरिका में पाया जाने वाला 'ओपोसम' जीव भी शीघ्र प्रजननशील है। यह बिल्ली की तरह का जीव है। इसके पेट में थैली होती है, जिसमें वह अपने बच्चों को रखती है; पर वह काओला और कंगारुओं से भिन्न जाति का जीव है।

लंबे परिवार की दुर्गति देखनी हो तो इस 'ओपोसम' के पास रहकर कुछ समय बिताना चाहिए। यदि ओपोसम की जीवन पद्धति देख लें, तो पता चलेगा कि संसार में शासन और प्रभाव उन लोगों का रहता है, जो शक्तिशाली और बलवान् होते हैं, भले ही उनकी संख्या न्यूनतम क्यों न हो। इसके विपरीत जनसंख्या की वृद्धि एक भार है; जो कि परिवार, समाज, राष्ट्र और जातियों की गरिमा को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है।

ओपोसम एक साथ ग्यारह-बारह बच्चे देती है। अँगूठे-अँगूठे भर के कमजोर बच्चों को थैली में शरण मिलती है। "कमजोरों को सौ फजीते" वाली कहावत—बेचारे बाहर निकलें, तो चील, कौवे, बाज चाहे जिसके शिकार बनें। निर्बलता के शिकार बच्चे थोड़ा बड़े भी हो जाते हैं, तो भी बेचारी मादा से ही चिपके रहते हैं। कामुक नर तो कहीं अन्यत्र उच्छृंखलता बरत रहा होता है। मादा की पीठ में नहीं समाते, तो कोई पूँछ में लटका रहता है, कोई गर्दन में। सबके सब अपने दाँतों से माँ के बाल पकड़े रहते हैं। माँ भी सोचती है—क्या मुसीबत पाली ! बच्चे हुए या आफत ! सारे जिस्म को नोंचते रहते हैं। बड़े हो जाते हैं, तो भी पिंड नहीं छोड़ते और इसी बीच ११-१२ बच्चों की एक नई टोली पेट में से आ जाती है। यह भी थैली में घुसने लगते हैं, सो जैसे तमाम भाइयों में जमीन, जायदाद के बँटवारों में झगड़ा होता है, ऐसे ही यह भाई भी आपस में लड़ने लगते हैं। ओपोसम खीझ जाती है, तब पहले वालों को पकड़-पकड़कर भगा देती है; पर तब तक दूसरी टोली तंग करने लगती है। बेचारी का जीवन इसी संकट में बीत जाता है और वह थोड़े ही दिन में मर जाती है। मनुष्यों के परिवारों में भी अधिक संतान के यही परिणाम होते हैं। परिवार ही क्यों, मनुष्य समाज के लिए भी यह स्थिति खतरे की घंटी है। जनसंख्या विस्फोट के अगले दिनों क्या दुष्परिणाम होंगे, समय रहते यदि नहीं चेता गया, तो प्रकृति अपना निर्मम प्रहार किस रूप में करेगी, कहा नहीं जा सकता। उपरोक्त उदाहरण में से इन संभावनाओं के अनुमान तो लगाये ही जा सकते हैं, जो जनसंख्या विस्फोट के कारण उत्पन्न होगी।

विनाश संकट के गहराते बादल

संसार में जो भी जातियाँ अधिक प्रजनन वाली रहीं, वह अविकसित और पददलित ही नहीं हुईं, नेस्तनाबूद भी हो गईं। योरोप में पाई जाने वाली 'डायनोसोरस' और 'ब्रांटोसरॉन' जातियाँ-जिनके पहले राज्यों के राज्य बसे थे, अब उनका एक भी आदमी संसार में देखने को भी नहीं मिलता। उनकी स्त्रियों को दूसरी समर्थ जातियों ने हड़प लिया और वे आपस में ही खाने-पहनने के नाम पर लड़-झगड़कर नष्ट हो गईं। जबकि थोड़े-से संयमी इजरायल और कजाख संख्या में थोड़े होने पर भी संसार में गौरवपूर्ण स्थान बनाये हैं। 'जनसंख्या नहीं—समर्थता जिंदा रहती है' के सिद्धांत को इन उदाहरणों द्वारा अनुभव किया जा सकता है। पिछले दिनों युद्ध हुआ और इजराइल, जिनकी संख्या कुछ लाख ही है, ने कई करोड़ अरबों को ७ दिन में परास्त करके रख दिया।

सूअर सबसे अधिक बच्चे देने वाला जानवर है। इसे अपना उदर-पोषण घृणित साधनों से ही करना पड़ता है। स्वयं भी बहुत कमजोर होता है। दूसरी ओर 'शेर' बहुत ही कम बच्चे देता है। उसकी शारीरिक क्षमता इतनी प्रचंड होती है कि जब दहाड़ता है, तो अगले पंजों से पृथ्वी को जकड़ लेता है, तब दहाड़ता है। किंवदंती है कि उसे आशंका रहती है कि मेरी दहाड़ से कहीं पृथ्वी फट न जाये। इस विशेष दहाड़ को 'नाकी' कहते हैं। जब वह दहाड़ भरता है, तो उस क्षेत्र के सारे पेड़-पौधे और पृथ्वी तक काँप जाती है। भारतीयों की संख्या तब थोड़ी ही थी; पर हमने संयमित और ब्रह्मचर्यपूर्ण जीवन के कारण वह शक्ति पाई थी, हिमालय पर खड़े होकर दहाड़ते थे, तो सारा एशिया काँप जाता था। हमारी वाहिनियाँ अमेरिका तक चली जाती थीं और उन्हें जीतकर लौटती थीं। जो अधिक संतान वाली जातियाँ होती हैं, वे

या तो—(१) जल्दी ही समाप्त हो जाती हैं (२) कमजोर होती हैं (३) अव्यवस्थित होती हैं, इसलिये ये संघर्ष और प्रतिस्पर्धा में सबसे पिछड़ी रहती हैं।

उपहासास्पद बात यह है कि एक ओर जनसंख्या वृद्धि का यह 'डायनासोर' निगलने दौड़ा आ रहा है, दूसरी ओर मनुष्य जाति शुतुरमुर्ग की तरह रेत में मुँह छुपाकर संकट टल जाने की कल्पना कर रही है। यह इसी तथ्य से स्पष्ट है कि अनेकानेक चेतावनियों के बावजूद प्रतिवर्ष आबादी की वृद्धि दर यथावत् बरकरार रहती है। एक ओर दुनिया की बढ़ती हुई आबादी से सर्वत्र चिंता है और उस पर अंकुश करने की बात सर्वत्र सोची जा रही है, तो कुछ देश ऐसे भी हैं, जो अपनी जनसंख्या बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील हैं। ऐसे देशों में बुल्गारिया की कहानी सर्वथा विचित्र है। वहाँ दो बच्चों को जन्म देना तो प्रत्येक महिला के लिए आवश्यक है ही, आगे के लिये उन्हें विधिवत् प्रोत्साहन-पुरस्कार दिया जाता है। दो बच्चों पर दो सौ रू० प्रति मास अनुदान मिलता है; पर यदि एक बच्चा और हो जाये तो सहायता तुरंत दो सौ से बढ़ाकर तीन सौ रुपये प्रतिमास कर दी जाती है। यदि कोई दंपत्ति जुड़वाँ बच्चे पैदा करें, तो उन्हें एक आरामदेह मकान मुफ्त दिया जाता है। साथ ही रेलगाड़ी से सारे देश की कहीं भी यात्रा करने का निःशुल्क पास भी मिल जाता है।

इन मूढ़-मान्यताओं, नियमों, प्रचलनों को क्या कहा जाए कि जब जनसंख्या वृद्धि से एक ओर मनुष्य के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिह्न लग रहा है, दूसरी ओर इस तथ्य की ओर गंभीरता से ध्यान ही नहीं दिया जा रहा है। ध्यान देकर तुरंत यदि इस दिशा में प्रयास न किये जाएँ, तब जनसंख्या वृद्धि और वैज्ञानिक प्रगति के वर्तमान उत्साह पर अधिक नियंत्रण अगले दिनों न हो सकेगा। हाँ, इतना प्रयत्न अवश्य किया जायेगा कि कम-से-कम सौ वर्ष तक मानव-जाति को जीवित रहने के लिए मार्ग निकाल लिया जाए। इसके लिए अभी से प्रयास चल पड़े हैं और सन् दो हजार से सन्

इक्कीस सौ तक की अवधि में जो किया जाना है, जो होना है, जो बनना है—आज उसकी रूपरेखा सबके सामने स्पष्ट रहे और उसे पूरा करने के लिए आवश्यक प्रयास समय रहते आरंभ कर दिये जायें।

■ घास खाकर रहना पड़ेगा

इसके उपरांत भी यदि जनसंख्या वृद्धि को रोकने के लिए समुचित प्रयास नहीं किये गये, तो अगले दिनों खाद्य संकट से लेकर विविध विधि संकट उत्पन्न हो जायेंगे।

नृतत्व विज्ञानी डॉ० एस० सिंपसन और वनस्पति विशेषज्ञ प्रो० डरमोकेनिंग ने बढ़ती हुई जनसंख्या से उत्पन्न समस्याओं के कुछ समाधान विषयक अपने निष्कर्ष-निबंध प्रकाशित कराये हैं—उनमें से कुछ तथ्यों का सारांश इस प्रकार है—

इन दिनों संसार की जनसंख्या अत्यंत तीव्र दर से बढ़ रही है। चक्रवृद्धि क्रम के अनुसार अगले दिनों इस संख्या में और भी वृद्धि होगी। नई संतानों में से कन्यायें औसतन १६ वर्ष की उम्र में और लड़के २१ वर्ष की आयु में नई पीढ़ी उत्पन्न करना शुरू कर देते हैं। इस तरह जनसंख्या वृद्धि की वार्षिकी बढ़ोत्तरी में आश्चर्यजनक वृद्धि होने लगती है। वर्तमान गतिविधि में यदि कोई असाधारण अवरोध उत्पन्न न हुआ तो सन् २००० में यह दर १० करोड़ वार्षिक तक जा पहुँचेगी। यों कहा तो यह भी जाता है कि सन् दो हजार में यह स्थिति उत्पन्न हो जायेगी कि यदि महायुद्ध न छिड़ा तो बढ़ती जनसंख्या संसार में मनुष्यों का निर्वाह अशक्य बना देगी और धरती के साधन सीमित रह जाने से बढ़ी हुई आबादी को भुखमरी अथवा महामारी ही संतुलित करेंगी।

जनसंख्या की बढ़ोत्तरी रोकने के लिए विचारशील स्तर का हर व्यक्ति चिंतित है। उन वज्र मूर्खों की बात नहीं, जो इस स्थिति में भी संतान न होने को दुर्भाग्य समझते हैं और बच्चे उत्पन्न करने के लिए लालायित फिरते हैं। सिद्धांततः अब हर जगह यह माना

जाने लगा है कि व्यक्ति और समाज का हित इसी में है कि वर्तमान स्थिति में संतान-वृद्धि को मानव द्रोह समझा जाए और उससे जितना बचा जा सके, बचा जाय।

सरकार जनसंख्या पर अंकुश करने के लिए तरह-तरह के प्रचार कर रही है और साधन जुटा रही है, फिर भी इस बाढ़ पर नियंत्रण, आशा एवं आवश्यकता से बहुत ही कम मात्रा में हो रहा है। दुनिया में अशिक्षित और पिछड़े वर्ग की बहुलता है, वह भी संतानोत्पादन की अनावश्यक अभिवृद्धि के दुष्परिणामों से परिचित नहीं हो पाया है और इस बढ़ोत्तरी में स्वेच्छाचार बरत रहा है, भले ही उसका परिणाम कुछ भी, किसी को भी, कितना भी क्यों न भुगतना पड़े।

बढ़ती हुई आबादी के लिए सबसे बड़ा संकट अगले दिनों खाद्य पदार्थों की कमी का होगा। संसार में जितना अन्न अब पैदा होता है, उससे बड़ी कठिनाई से ही पेट भरा जाता है। उत्पादन के बहुमुखी प्रयत्न बढ़ती आबादी की तुलना में पीछे ही रह जाते हैं और अन्न उत्पादन के सारे प्रयत्नों का परिणाम भी अपर्याप्त रहता है।

मांसाहार की आदत बढ़ाने में अन्न की खपत में कुछ राहत मिलने की बात सोची जाती रही है; पर मनुष्यों की बढ़ोत्तरी के कारण पशुओं के लिए निवास और चारे की समस्या जटिल होती जा रही है। चमड़े और मांस की खपत को बूचड़खाने पूरा नहीं कर पा रहे, अस्तु संसार में पशुओं का अनुपात तेजी से घटता जा रहा है और दूध, घी, मांस आदि पदार्थों की कमी और महँगाई सामने आती जा रही है। कुछ ही समय में मनुष्यों की प्रतिद्वंद्विता में पशुओं को अपना अस्तित्व गँवा बैठने के लिए विवश होना पड़ेगा। स्थिति की गंभीरता समझने वाले कहते हैं कि अगले दिनों न गाय बचेंगी, न बकरे। जंगल साफ हो जाने के कारण जंगली पशुओं का मांस भी अप्राप्य हो जायेगा। बड़े नगरों के कारखानों के विषाक्त जल को नदियाँ जिस तेजी से समुद्र में फेंक रही हैं और अणुशक्ति

उत्पादन से बची भस्म सागर में जिस मात्रा में डाली जा रही है, उसे देखते हुए मछलियों का जीवन भी असंभव हो जायेगा, तब न मछलियों का मांस मिलेगा, न पालतू अथवा जंगली पशुओं का।

महायुद्ध, महामारी के महाप्रलय जैसे दैवी अस्त्र यदि न चलें, तो मनुष्य की बढ़ती हुई आबादी के लिए खाद्य पदार्थों की तो चिंता करनी ही पड़ेगी और कम-से-कम इतना मार्ग तो ढूँढ़ना ही पड़ेगा कि भूख से तड़प-तड़प के मरने के हृदय-विदारक दृश्य देखने नहीं पड़े।

खाद्य समस्या का हल करने के लिए दूरदर्शी विचारक यह सोच रहे हैं कि अन्न या दूध-मांस की उपलब्धि में प्रस्तुत संकट को देखते हुए आहार का प्रमुख माध्यम 'घास' को बनाया जाए। जबकि असंख्य पशु घास खाकर जीवन-यापन करते हैं, तो मनुष्य को ही उस पर निर्भर रहने में क्या और क्यों कठिनाई अनुभव करनी चाहिए ? मनुष्यों की बढ़ी हुई आबादी के लिए निवास, कृषि, उद्योग, परिवहन, यातायात, शिक्षा, शासन, चिकित्सा आदि की व्यवस्था जुटाने में वर्तमान भूमि में से हरियाली उत्पन्न करने वाला भाग बेतरह घट जायेगा। तब पशुओं को इस धरती पर से अपना अस्तित्व समाप्त करना पड़ेगा। गाय, भैंस, घोड़ा, गधा, भेड़, बकरी किसी के भी दर्शन न होंगे। ऐसी दशा में कृषि उत्पादन से बचा हुआ घास-भूसा मनुष्यों के निर्वाह का माध्यम बनेगा। पेड़ जाते रहने से लकड़ी नहीं मिलेगी। घास-भूसे की लुगदी को विशेष रासायनिक क्रियाओं द्वारा लकड़ी के रूप में बदल दिया जायेगा। कपड़े-कागज आदि की जरूरतें भी घास से ही पूरी करनी पड़ेंगी। इसी में से जितना अंश मनुष्योपयोगी होगा, वह खाद्य पदार्थों के रूप में बदल लिया जायेगा। अभ्यास न होने के कारण संभवतः पशुओं की तरह घास खाने में लोगों को कठिनाई पड़ेगी। दाँत उसे ठीक तरह चबा नहीं सकेंगे, पेट उसे कच्चे रूप में हजम नहीं कर सकेगा। ऐसी दशा में यह उपाय वैज्ञानिक वर्ग ने सोचा है कि घास

को ऐसी शक्ल में बदल दिया जाए, जिससे वर्तमान खाद्य पदार्थों की शक्ल और स्वाद प्राप्त हो जाए।

यह मात्र कल्पना या योजना नहीं, वरन् एक तथ्य है, जिसे व्यावहारिक रूप देने के लिए इन दिनों तेजी से प्रयत्न किये जा रहे हैं और उनमें आशाजनक सफलता भी मिल रही है।

आहार में प्रोटीन की आवश्यकता सबसे अधिक मानी जाती है। पिछले दिनों तेल के बीजों के माध्यम से उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया है और उससे जो पदार्थ बने हैं, उनसे घी, दूध, अंडे, मांस, मेवा आदि की स्थानापन्न खाद्य सामग्री बनाई गई है। तिल, मूँगफली, अलसी, सरसों, सोयाबीन जैसे पदार्थों को आटे में मिलाकर बिस्कुट, डबलरोटी, मिठाई, पकवान आदि बनाये जा रहे हैं। इससे जहाँ अन्न की कमी पूरी होती है, वहाँ पौष्टिक तत्त्व भी मिल जाते हैं। तेल निकालने के बाद जो खली बचती है, वह अब तक प्राय: पशुओं को पौष्टिक आहार के रूप में खिलाई जाती रही है; पर अगले दिन न पशु रहेंगे और न उनके लिए खली आदि का खर्च करना होगा। तब उस खली को आटे में मिलाकर सस्ती रोटियाँ बना ली जाया करेंगी और नई पीढ़ी उन्हें अपने सौभाग्य का चिह्न मानकर स्वादपूर्वक खाया करेगी।

पर यह भी झंझट की ही बात है, जब अन्न तक दुर्लभ होगा, तो तेल वाली फसलें ही इतनी कहाँ से पैदा होंगी, जिनसे उस बढ़ी हुई जनसंख्या का काम चल सके। इसलिए सस्तेपन और बाहुल्य को ध्यान में रखते हुए बात आकर 'घास' पर ही जमेगी। इन दिनों पशुओं द्वारा खाई जाने वाली घास, अनाज के पौधे का भूसा तब मानवी खाद्य समस्या को हल करने के लिए प्रयुक्त होंगे। पता लगाया गया है कि एक टन घास में एक हंडरवेट तक प्रोटीन प्राप्त की जा सकती है। घास की लुगदी बनाकर उसमें से हरे रंग का प्रोटीन पाउडर निकाला जाएगा। उसकी तीन-चौथाई मात्रा और अन्न का आटा एक-चौथाई मिलाकर, लगभग उसी शक्ल और

स्वाद के खाद्य पदार्थ बना लिए जायेंगे जैसे कि आजकल प्रयोग में आते हैं।

इन दिनों दूध हर मनुष्य के भाग्य में तो नहीं रहा; पर बच्चों के लिए—बीमारों के लिए—चाय में उसकी आवश्यकता अभी भी समझी जाती है। अगले दिनों पशु नहीं रहेंगे तो असली दूध-घी के भी दर्शन नहीं होंगे। ऐसी दशा में बीज तथा वनस्पतियों से ही दूध की शक्ल-सूरत का एक ऐसा पदार्थ बना दिया जायेगा, जो कम-से-कम मन बहलाने और समय की माँग का प्रयोजन पूरा कर दे। मूँगफली और सोयाबीन को पीसकर अब भी उसी स्तर की एक चीज बनने लगी है, पर अगले दिनों तो अमुक घासों का गूदा ही रासायनिक पदार्थों की सहायता से सफेद और पतला बना दिया जायेगा और दूध जैसी रासायनिक सुगंध की कुछ बूँदें डालकर ऐसी बना दी जायेगी, जो दूध के अभ्यस्त लोगों के लिए मन बहलाने का माध्यम बन सके। नकली घी से, वनस्पति घी से तो अभी भी बाजार भरा पड़ा है; पर उसमें एक कठिनाई यह है कि बिनौला, नारियल, मूँगफली आदि भविष्य में दुर्लभ बनने जा रहे हैं। बीजों से उनमें प्रयुक्त होने वाला तेल बनता है। भविष्य में अन्न, तेल आदि खाद्य पदार्थ आज के मेवा-मिष्ठान्न जैसे महँगे होंगे, अस्तु उनका उपयोग सर्वसाधारण के लिए संभव न होगा। घास से ही घी जैसी चिकनाई भी बन जायेगी। चीड़, देवदार आदि के दरख्तों में तेल रहता है। ऐसी ही किसी सस्ती वनस्पति पर चिकनाई के लिए निर्भर रहना पड़ेगा। वैसे उसकी कुछ बहुत जरूरत भी नहीं पड़ेगी। कमजोर हाजमा वाले लोग स्वतः चिकनाई से परहेज करेंगे और उसके उपयोग को अनावश्यक समझेंगे।

घास से बने खाद्य पदार्थों में जो भी कमी रह जायेगी, उसे गन्ना, महुआ, चावल, जौ आदि को सड़ाकर उससे उठाये गये खमीर को उसमें डालकर पूरा किया जायेगा, तब घास की बनी डबल रोटियाँ आजकल की पाकशालाओं के पिछड़ेपन का उपहास उड़ाया करेंगी। खमीर और घास के सम्मिश्रण से बनी डबल

रोटियाँ महीनों काम दिया करेंगी। रोज-रोज बनाने का झंझट न रहेगा। अनुमान है कि आज से लगभग तीस वर्ष बाद, जबकि बढ़ी हुई जनसंख्या के कारण घास ही मनुष्यों का प्रधान आहार रह जायेगा, नित्य भोजन पकाने के लिए चूल्हा फूँकना कोई पसंद न करेगा। महिलाएँ तो इतना झंझट मोल लेकर ही यदि गृहस्थी बसानी पड़ती हो, तो उससे दो टूक इनकार कर देंगी।

अब से तीस वर्ष बाद, जबकि आबादी अबकी अपेक्षा दो गुनी बढ़ी हुई हो सकती है, मनुष्य जाति को अगणित समस्याओं का सामना करना पड़ेगा। उनमें से एक खाद्य समस्या का धुँधला-सा हल पेट भरने के लिए घास पर निर्भर होने के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वनस्पतिशास्त्री और सरकारी संस्थानों का ध्यान इस संदर्भ में अधिक कारगर शोधें करने में लगा है। घास को खाद्यान्न में भली प्रकार बदल सकने योग्य तंत्र तथा रसायन सामने लाये जा रहे हैं। अनुमान है कि सन् २०१० तक आज की चेष्टा का स्वरूप विशालकाय उत्पादन का रूप धारण कर लेगा और भूख से तड़पकर मरने की आशंका से राहत प्राप्त कर ली जायेगी। वनस्पति उत्पादन की भूमि तब विकसित किस्म की घासें उगाने को प्रधानता देगी और उसकी कई-कई फसलें काटकर लोग किसी तरह उदरपूर्ति कर लिया करेंगे।

फिर भी स्थान की कमी का सवाल बना ही रहेगा। बड़े शहरों में दुमंजिली, तिमंजिली बसें चल रही हैं। रेलें भी अगले दिनों दुमंजिली ही बनेंगी। बहुमंजिली इमारतें ही बनाई जायेंगी। खेत के ऊपर खेत भी शायद इसी प्रकार बनें। जमीन के नीचे रेलें, सड़कें ही नहीं, बस्तियाँ भी बसेंगी। वर्षा के पानी की एक-एक बूँद समुद्र में जाने से रोककर उसे प्यास बुझाने के, सिंचाई के तथा कल-कारखानों के काम में लाया जाया करेगा। शिक्षा के लिए घरों पर ही टेलीविजन और रेडियो से पढ़ाई हुआ करेगी। स्कूल, कॉलेजों में घिरने वाली जगह को बचाने के लिए यही तरीका सरल पड़ेगा। यातायात के लिए वायुयानों अथवा लोहे के रस्सों पर झूलते

हुए विशालकाय डिब्बे काम में लाया जाएगा। धरती पर रेंगने वाली भीड़ कुचलकर न मर जाए, उसके लिए ऐसे ही कुछ उपाय काम में लाने पड़ेंगे।

खाद्य की, मनुष्यों की घिचपिच और जीवनोपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चलने वाले कल-कारखानों का धुआँ—यह दोनों संकट बढ़ती हुई जनसंख्या के सबसे बड़े अभिशाप होंगे। हवा में इन दिनों भी प्रदूषण चिंताजनक गति से बढ़ रहा है। कारखाने, नदियों से लेकर समुद्र तक का पानी विषैला बनाने में बेतरह लगे हुए हैं।

■ प्रजनन के पक्ष में लचर दलीलें

इन विभीषिकाओं को देखते हुए अंधाधुंध प्रजनन को सर्वथा अवांछित समझना चाहिए; पर कई लोग हैं, जो इसके पक्ष में बड़े विचित्र और अजीबोगरीब तथ्य देते हैं। कई बार तो ऐसी लचर दलीलें पेश की जाती हैं, जो एक बार तो सारगर्भित भी प्रतीत होती हैं, पर जब गहरी दृष्टि से देखते हैं, तो प्रतीत होता है कि इनमें भावी परिस्थितियों की कल्पना कर सकने की असमर्थता ही झाँकती दिखाई पड़ती है।

यह कहा जाता है कि पिछड़े हुए लोग जनसंख्या की वृद्धि अधिक करते हैं। उन्हें नियंत्रण की बात समझ नहीं आती। समझदार लोग ही इस प्रकार का संयम करते हैं। फलतः अच्छे लोगों की संतानें घटती जायेंगी और पिछड़े लोग बढ़ जायेंगे, फलस्वरूप भविष्य में उन्हीं का बहुमत हो जायेगा। यह आशंका इसलिये निरर्थक है कि जो समझदार लोग समाज हित को ध्यान में रखकर संतानोत्पादन से हाथ खींचेंगे, वे अपनी क्षमता को समाजहित में ही लगायेंगे और पिछड़े वर्ग को सुविकसित बनाने में लगेंगे। ऐसी दशा में कोई पिछड़ा रहेगा ही नहीं। विद्वान्, धनवान्, गुणवान्, प्रतिभावान् वर्ग के लोग आज तो अपने और अपने बाल-बच्चों के लिए ही अपनी समस्त क्षमता खर्च करते रहते हैं।

जब वे संकीर्णता की परिधि से ऊपर उठकर समाज हित की बात सोचने लगेंगे और प्रजनन पर नियंत्रण स्वीकार करेंगे, तो स्वभावतः उनमें उतनी उदारता भी जगेगी कि अपनी विभूतियों को पिछड़े हुए लोगों का पिछड़ापन दूर करने में नियोजित करें। ऐसी दशा में देश के सभी बच्चे उनके अपने बच्चे होंगे और यदि उन पर उच्च वर्ग का ध्यान बना रहा, तो फिर वे बालक उसी भूमिका को संपन्न करेंगे, जो उच्च परिवारों में उत्पन्न हुए—साधन-सुविधाओं में पले बालक कर सकते हैं। सच तो यह है कि अमीरी में जन्मे बालकों की अपेक्षा गरीबी में जन्मने वालों को यदि अवसर मिले, तो वे कहीं अधिक तीव्र गति से प्रगति कर सकते हैं।

इसी प्रकार यह सोचना भी बेतुका है कि हिंदू लोग ही संतानोत्पादन सीमित करने की बात पर ध्यान देते हैं। मुसलमान इस आंदोलन में उतना उत्साह नहीं दिखाते। ऐसी दशा में मुसलमानों की संख्या बढ़ती जायेगी, हिंदू उनकी तुलना में घटते जायेंगे, फलस्वरूप कुछ दिनों में आबादी के अनुपात से हिंदुस्तान को मुसलिमस्तान बनने का खतरा उत्पन्न हो जायेगा।

यह आशंका बालिग मताधिकार के वर्तमान चुनावी ढाँचे को देखते हुए की जाती है। निकट भविष्य में न तो यह प्रजातंत्री ढाँचा रहेगा और न वर्तमान सांप्रदायिक कट्टरता के लिए कोई आधार शेष रह पायेगा। बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक क्रांति के कारण विभेद की अनेक दीवारें विस्मार होने जा रही हैं। उनमें विभेद उत्पन्न करने वाला आज का संप्रदायवाद भी नष्ट होकर ही रहेगा। भोजन, वस्त्र में भिन्न रुचि के कारण परस्पर कोई द्वेष-दुर्भाव पैदा नहीं होगा, ठीक इसी प्रकार धर्म-भेद भी सामाजिक वर्ग-भेद पैदा कर सकने जैसा विषाक्त न रहेगा; उसके विषदंत तब तक पूरी तरह टूट चुके होंगे। वैसे पूरी संभावना एक विश्व धर्म की ही की जानी चाहिए। वर्तमान संप्रदायों की तो तब मात्र झाँकी ही रह सकती है। जिस द्वेष-दुर्भाव को देखते हुए आज किसी धर्मावलंबी की वृद्धि की बात सोची जाती है, उस दुष्टता के लिए अगले दिनों

कहीं कोई स्थान न होगा। सभी मनुष्य मात्र बनकर रहेंगे और देश की सीमित भूमि सीमा को तोड़कर विश्व राष्ट्र में सभी लोग विश्व नागरिक बनकर रहेंगे। इसके अतिरिक्त नई वैज्ञानिक एवं आर्थिक प्रगति के साथ उत्पन्न हुई समस्याओं का और कोई हल ही नहीं है। हमें उन अगले दिनों की सुनिश्चित संभावना को ही ध्यान में रखना चाहिए, कि आज के विषदंश वाले संप्रदायवाद के भविष्य में भी इसी रूप में बने रहने की आशंका को मन में से पूरी तरह निकाल देना चाहिए।

संसार में बहुमत सदा पिछड़े और मूर्ख लोगों का रहा है। यदि आज के बालिग मताधिकार वाला प्रजातंत्र आगे भी बना रहा, तो कभी भी समझदार लोगों की सरकार नहीं बन सकेगी। अच्छी सरकार के लिए अच्छे मतदाता होने चाहिए। ऐसे लोग जो राष्ट्रीय उत्तरदायित्व को ठीक तरह समझ सकें और निबाह सकें, आगे भी अब की ही तरह अल्प मात्रा में अल्प मत में होंगे। अगले दिनों प्रजातंत्र भले ही रहे; पर उसकी चुनाव पद्धति में ऐसा हेर-फेर होगा ही कि उत्तरदायित्व को समझने और सँभालने वाले लोग ही मतदान करें अथवा प्रत्याशी बनें। इसके लिए कसौटियाँ निर्धारित करनी पड़ेंगी, तभी कोई आदर्श सरकार बन सकेगी, अन्यथा भीड़ का राज्य जैसा हो सकता है, वैसा ही बना रहेगा। आज भले ही यह कुछ अटपटा लगे, पर यदि प्रजातंत्र को सफल होना है, तो उसे इस प्रकार का सुधार-परिवर्तन करना ही पड़ेगा। इस स्थिति में यह आशंका निर्मूल सिद्ध होगी, कि द्वेष-दुर्भाव रखने वाले लोग बहुमत में आकर सामाजिक न्याय में विग्रह-विद्वेष उत्पन्न करेंगे। अगले दिनों हर व्यक्ति सांप्रदायिक स्वार्थों से ऊँचा उठा हुआ होगा और उस प्रकार सोचकर करने का अभ्यासी बनेगा, जिससे न्याय या विवेक के टकराने की किसी को भी सुविधा न रहे। तब अमुक संप्रदाय के लोग घटेंगे-बढ़ेंगे नहीं, जनसंख्या में धर्म-संप्रदाय का उल्लेख भी नहीं होगा। सभी मनुष्य होंगे। उस परिवर्तन को लाये बिना तो आज का बहुमत-अल्पमत ज्यों का त्यों बना रहे, तब भी

शांति नहीं आ सकती। जब पाकिस्तान बना था, तब तो मुसलमानों की संख्या और भी कम थी, हिंदू और भी अधिक बहुमत में थे। तब भी विग्रह-विद्वेष फूट ही पड़ा था। योरोप के देश प्रायः सभी ईसाई हैं, तो भी इनमें आये दिन युद्ध ठनते और विग्रह उत्पन्न होते रहते हैं।

जनसंख्या नियंत्रण की विश्व-विभीषिका का सामना करने में हमें इस विकृति को, आशंकाओं को, ध्यान में रखकर असमंजस में पड़ने की जरूरत नहीं है। इन्हें तो अगला समय दूध में से मक्खी की तरह निकालकर फेंकने ही वाला है।

■ अपनी भी देखें, जानें

जनसंख्या वृद्धि की दृष्टि से भारत को भी अगले दिनों भयंकर संकटों का सामना करना पड़ सकता है। भारत में हर महीने लगभग १५ लाख नये बच्चे पैदा होते हैं। दुनिया में अन्यत्र वार्षिक जन्म दर दो प्रतिशत बढ़ रही है, पर भारत अन्य किसी मामले में न सही, बच्चे पैदा करने में सबसे अग्रणी है। उसकी दर पिछली दशाब्दियों में तीन प्रतिशत थी, अब साढ़े तीन प्रतिशत हो गई है और एक-दो वर्ष में चार प्रतिशत हो जाने की आशा है अर्थात् भारत अब यह कहने की स्थिति में पहुँच गया है कि दुनिया को चुनौती देकर कह सके कि वह किसी भी देश से इस क्षेत्र में दूनी प्रगति कर रहा है।

एक प्रतिशत वृद्धि का परिणाम आबादी का ७० वर्ष में दूना हो जाना होता है। यदि वह दर दो प्रतिशत हो जाये तो ३५ वर्ष में वह संख्या दूनी हो जायेगी। साढ़े तीन या चार प्रतिशत की वृद्धि का अर्थ है, २० वर्ष से भी कम में दूना हो जाना। इस दृष्टि से भारत सन् २००० में १०० करोड़ की संख्या पार कर चुका होगा। जन्मदर अब बढ़ रही है, तो तीन से साढ़े तीन, साढ़े तीन से चार और चार से पाँच-छह होने में भी क्या हर्ज है ? गर्म देशों में तेरह-चौदह वर्ष की लड़कियाँ और सत्रह-अठारह वर्ष के लड़के

संतान पैदा करने लगते हैं। उत्साह अब जैसा ही बना रहा, तो जन्म दर जितनी भी बढ़ जाए, उतनी ही कम है। चक्रवृद्धि क्रम से तो वह सहज ही स्वल्पकाल में अत्यधिक बढ़ जाती है।

■ समर्थता का कोई संकट

जनसंख्या कम होने के कारण कोई जाति या देश कमजोर हो जायेगा, इस तर्क में कोई दम नहीं है। उल्टे जनसंख्या वृद्धि के कारण तो संबंधित जाति या देश कमजोर तथा अशक्त बनते हैं। अपने देश की आबादी इन दिनों ६५ करोड़ है। इधर भूमि की दृष्टि से विश्व की तुलना में हमारा प्रतिशत कुल २.४ प्रतिशत ही है। जमीन थोड़ी और खाने वाले बहुत, तब हमारी स्थिति भी ओपोसम और मछली की सी हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिए।

यहाँ प्रति सेकंड एक बच्चा पैदा हो जाता है, प्रति वर्ष लगभग दो करोड़ नये बच्चे जन्म ले लेते हैं। इनमें से ८० लाख तो अच्छी परवरिश के अभाव में ही मर जाते हैं। जो रहते भी हैं, वे स्वास्थ्य, खाद्य समस्या, शिक्षा, रोजगार और सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से भार हो जाते हैं। यदि यह बाढ़ रोकी न गई तो अगले २५ वर्षों में भारतवर्ष की आबादी डेढ़ अरब हो जायेगी, जबकि खाद्य-उत्पादन की स्थिति वहीं की वहीं रहेगी। उस समय की अवस्था का अनुमान ऊपर के दो उदाहरणों से किया जा सकता है।

इसके विपरीत समर्थता किस प्रकार विजयी होती है, उसका सबसे अच्छा उदाहरण इंग्लैंड है। इस छोटे-से देश का क्षेत्रफल कुल ६४५११ वर्गमील है, इसकी आबादी लगभग ६ करोड़ है जबकि जब अंग्रेज जाति विश्व विजय के लिए निकली, तब उसकी संख्या और भी कम रही होगी। अपनी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सामर्थ्य के द्वारा इन थोड़े-से आदमियों ने संसार में अपनी विजय पताका फहराकर इस धारणा को निर्मूल सिद्ध कर दिया कि प्रभुत्व बनाये रखने के लिए जनसंख्या आवश्यक है। यदि ऐसा रहा होता

तो इंग्लैंड से भी बड़ा २९४३६४ वर्ग किमी० और १८ करोड़ से अधिक आबादी वाला उत्तर प्रदेश ही इंग्लैंड से कहीं बढ़कर काम दिखा सका होता, पर उलटे यह प्रदेश अनेकों समस्याओं से ग्रस्त पड़ा है।

थोड़े लोगों की परवरिश, शिक्षा-दीक्षा जितनी अच्छी हो सकती है, अधिक लोगों की उतनी अच्छी नहीं हो सकती है। इसीलिए थोड़े लोग बलवान् हो जाते हैं और सैकड़ों कमजोरों को दबाये रखते हैं। शेर और बाघ कम प्रजनन वाले जंतु हैं। इनके बच्चे दो वर्ष तक माँ का दूध पीते हैं। गैंडा का बच्चा अपनी माँ के पास ६ वर्ष तक अकेला रहता है और दूध पीकर मोटा-ताजा हो जाता है। उससे लड़ने की हिम्मत शेर-चीते भी नहीं करते। ह्वेल मछली का समुद्र में आतंक रहता है। उसके बच्चे माँ का दूध ६ माह तक पीते हैं। समुदी बीवर और ओटर को १ वर्ष तक माता का संरक्षण मिलता है। इतना पोषण प्राप्त किये बच्चे ही जब समुद्र में निकलते हैं, तो आयु में अधिक किंतु कमजोर दूसरे जीव उनका आदाब बजाते हैं और डरकर एक ओर खड़े हो जाते हैं।

यह उदाहरण इस बात के प्रमाण है कि शक्तिशाली होकर थोड़े होना अच्छा। रोगी, दुर्बल और समस्याग्रस्त लोगों की भीड़ बढ़ाकर एक समर्थ जाति का स्वप्न देखना कोरी मूर्खता है। जनसंख्या वृद्धि के जो भी दुष्परिणाम हैं, उनसे मनुष्य जाति का बचना संभव नहीं है। इस दृष्टि से विश्व की सर्वप्रमुख समस्या जनसंख्या वृद्धि कही जाए, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

□□

जनसंख्या समाधान के हास्यास्पद प्रयास

संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक प्रतिवेदन में कहा गया है कि सन् १९७० में विश्व की समस्त जनसंख्या ३ अरब ३३ करोड़ २० लाख थी, यदि आगे यही क्रम जारी रहा, तो सन् २००५ में संसार की जनसंख्या तीन गुनी बढ़ जायेगी अर्थात् ११ अरब से भी ऊपर निकल जायेगी। मोटे तौर पर यह समझदारी बढ़ी है कि लोग कम बच्चे पैदा करने की आवश्यकता को अनुभव करें। इसलिए जन्मदर यत्किंचित घटी है; परंतु वह राई के बराबर है। जनसंख्या वृद्धि यदि इसी क्रम से घटती रही, तो 'प्रति हजार पीछे हर साल' इस समय जो ३३.२ बच्चे पैदा होने का क्रम है, वह घटकर २५.१ हो जायेगा।

लेकिन मृत्यु दर भी घट रही है। वह इन दिनों १२.८ प्रति हजार है। वह भी भविष्य में घटकर ८.१ रह जायेगी। इस प्रकार बढ़ोत्तरी और घटोत्तरी का हिसाब लगाने पर अंतिम निष्कर्ष यह रहेगा कि वृद्धि फिर भी ५५.५ प्रति हजार से बढ़कर ६५.५ हो जायेगी।

यह स्थिति विशेषज्ञों से छिपी हुई नहीं है। अतः विश्वभर के विचारशील मनीषी इस समस्या का समाधान करने के लिए, जनसंख्या विस्फोट के कारण उत्पन्न होने वाले संकट से मनुष्य जाति को बचाने के लिए चिंतित हैं। इस दिशा में ठोस समाधान के लिए कई उपाय् भी सुझाए गए हैं, जिनमें कृत्रिम साधनों के प्रयोग का सुझाव सर्वत्र दिया जा रहा है।

लेकिन कृत्रिम साधनों का प्रयोग निरापद नहीं समझा जा रहा है। डॉ० मेरी स्कारलेब, सर राबर्ट्स, आर्मस्ट्रांग जोन्स, डॉ० हेक्टर तथा डॉ० मैकन आदि ने कृत्रिम उपकरणों द्वारा

संतति निरोध के परिणामों का गहन अध्ययन कर उसको बुरा बताया। इस संबंध में इन सबकी सम्मिलित राय यही है—

"इससे उच्छृंखलता एवं कामुकता बढ़ने का खतरा है। सामाजिक जीवन में 'काम' जैसे गोपनीय विषय को इस प्रकार सार्वजनिक चर्चा का विषय बनाना, किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है। इससे मनुष्य का मन कामेंद्रियों की ओर आकर्षित होता है, फलस्वरूप संयमी व्यक्तियों का मनोबल भी दुर्बल पड़ता है और वे भी कामुकता के शिकार हो जाते हैं।"

इस दृष्टि से परिवार नियोजन के कार्यक्रमों को यह मानना चाहिए कि वे देश का नैतिक पतन करने का साधन बन गये हैं। भारतवर्ष पिछले आयोजनों में परिवार नियोजन पर अरबों रुपया व्यय कर चुका है। लाखों लोग इसके लिए सरकारी तौर पर नियुक्त किये गये हैं। रेडियो-टेलीविजन, समाचार-पत्रों, पत्र-पत्रिकाओं में ऐसे लेखों एवं दृश्य-श्रव्य सामग्री को प्राथमिकता दी जाती है। इन सब का तात्पर्य यह हुआ कि इतने समस्त साधन जनसंख्या-वृद्धि नहीं रोक रहे, वरन् चारित्रिक भ्रष्टता उत्पन्न कर रहे हैं।

परिवार नियोजन की दृष्टि से चलने वाले नसबंदी—रबड़ थैली, लूप, गोलियाँ जैसे प्रयोग भी कुछ बड़ी रोकथाम नहीं कर सके, क्योंकि दुनिया में पिछड़ी हुई जनता ही अधिक है। वह नियोजन का महत्त्व नहीं समझती और इन साधनों को प्राप्त करने एवं उपयोग करने में झिझकती है। प्रकृति दुर्बलों को संतान भी अधिक देती है। नियोजन के प्रचार से केवल शिक्षित और समझदार लोग प्रभावित होते हैं और वे ही आंशिक रोकथाम करते हैं। इससे रोकथाम तो नहीं के बराबर होती है, उलटे विकसित वर्ग की संख्या का संतुलन घटता जाता है। इस प्रकार उस आंदोलन से जितने लाभ की आशा की गई थी, वह तो नहीं मिला; पर एक परिणाम अवश्य हुआ कि जहाँ कुछ समय पहले संतानोत्पादन को सौभाग्य का आधार माना जाता था, वहाँ अब लोग उसके

दुष्परिणामों के बारे में भी समझने, सोचने लगे हैं। इस तरह जो लोक-मानस बन रहा है, संभव है—उसका कुछ अच्छा परिणाम भविष्य में सामने आये और लोग आज की मान्यता से सर्वथा भिन्न प्रकार यह सोचने लगें, कि प्रजनन का उत्साह व्यक्ति और समाज दोनों के लिए ही हर दृष्टि से घातक है।

विश्व के मूर्धन्य विचारकों की इस समस्या को सुलझाने के लिए विवाह संस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन करने की बात समझ में आ रही है और वे सरकारों से यह अनुरोध कर रहे हैं कि प्रजनन को निरुत्साहित करने वाले कड़े कदम उठाने का दुस्साहस करें, भले ही प्रचलित परंपराओं को उनसे आघात पहुँचे और पुरातन-पंथी उसका विरोध करें। इसी प्रकार वे बुद्धिजीवियों और समाज के नेताओं पर यह दबाब डाल रहे हैं कि प्रजनन पर नियंत्रण करने वाले हर उपाय का वे समर्थन करें। वैध-अवैध और उचित-अनुचित के विचार को छोड़ने की बात, वे इस आधार पर कहते हैं कि जीवन-मरण की प्रस्तुत समस्या का समाधान आपत्ति धर्म के अनुरूप खोजा जाना चाहिए। एक ओर मरण का सर्वनाश है, दूसरी ओर उचित-अनुचित। वे कहते हैं, ऐसी स्थिति का सामना युद्ध संकट की आपत्तिकालीन स्थिति की तरह किया जाना चाहिए।

इन विशेषज्ञों का एक सुझाव यह है कि उच्च वर्ग के लोग विवाह तो करें; पर संतानोत्पादन बिल्कुल न करें। वे निम्न वर्ग के लोगों के बच्चे ले लें और उन्हें अपने आश्रय में रखकर पालें-पोसें। इस प्रकार उनकी संतान विनोद की आवश्यकता भी पूरी होती रहेगी, उनमें परोपकार की उदार वृत्ति भी पनपेगी और निम्न वर्ग में उत्पन्न हुए बालकों को उच्च वर्ग का बनने में सहायता मिलेगी।

दूसरा सुझाव यह है कि विवाह की आयु कानून बनाकर बढ़ा दी जाए। लड़कियाँ पच्चीस वर्ष से पहले और लड़के तीस वर्ष से पहले विवाह न करने पाएँ। जो करें, वे कड़ा दंड भुगतें और वे विवाह गैर कानूनी ठहरा दिये जाएँ। संतानोत्पादन की आधी वृद्धि इसी आयु में ही हो लेती है। लड़कियाँ पच्चीस वर्ष की आयु तक

आधा उत्पादन पूरा कर देती हैं। शेष सारी उम्र में जितने बच्चे पैदा होते हैं, उतने बीस-पच्चीस वर्ष तक की महिलाएँ जन चुकती हैं।

तीसरा उपाय यह है कि अल्प वयस्कों के विवाह से स्थापित हुए गर्भो को अस्पताल में गर्भपात कराके नष्ट करने का कानून बना दिया जाय और दो या तीन बच्चे पैदा कर चुकने पर प्रत्येक नर-नारी को सरकारी दबाव से बंध्या कर दिया जाए। अधिक संतान उत्पन्न करने वालों के साथ समाजद्रोही जैसा व्यवहार किया जाय, उन्हें सरकारी और सामाजिक क्षेत्र में पिछड़ा माना जाए और उपेक्षापूर्ण व्यवहार किया जाए। निर्धनों के बच्चे जब्त कर लिये जाएँ और उन्हें सरकार पाले, ताकि घटिया नागरिकों की भरमार न होने पाये।

स्कूलों में एक अनिवार्य विषय के रूप में परिवार नियोजन पढ़ाया जाए और रेडियो-टेलीविजन, सिनेमा, अखबार आदि साधनों से जनता को इस दिशा में निरंतर प्रशिक्षित किया जाए। सरकारी नौकरियों में बिना बच्चे या कम बच्चे वालों को ही लिया जाए, ताकि वे अधिक तंगी से विवश होकर भ्रष्टाचार अपनाने के लिए बाध्य न हों।

ब्रह्मचर्य पालन करके जनसंख्या नियंत्रण की बात इन विचारकों की दृष्टि में आदर्शवादी चर्चा का विषय बन सकती है; पर उसकी कोई व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है। वर्तमान वातावरण को साहित्य ने, कला ने, शृंगारिकता के प्रचलन ने इतना कामोत्तेजक बना दिया है कि इन दिनों ब्रह्मचर्य अपवाद ही रह सकता है; सर्वसाधारण उसे हृदयंगम कर सकें और व्यावहारिक जीवन में ला सकें—यह असंभव है। इस मान्यता के आधार पर वे विवाह और प्रजनन की दो ही प्रक्रियाओं का वर्तमान ढाँचा बदलना चाहते हैं। इसके लिए उनके कुछ विचित्र लगने वाले, किंतु विचारणीय सुझाव हैं।

एक सुझाव यह है कि नर-नारी के बीच विवाह भले ही होते रहें; पर वे संतानोत्पादन न करने की शारीरिक स्थिति उत्पन्न कर

लें, बंध्याकरण का आपरेशन करा लें अथवा अन्य निरोधक उपाय बरतते रहें।

दूसरा उपाय बहुपति प्रथा को पुनर्जीवित करने का बताया गया है। उनका तर्क है कि प्राचीन काल में द्रोपदी और कुंती के उदाहरण मौजूद हैं; जिन्होंने एक साथ कई पतियों को भली प्रकार संतुष्ट रखा था। प्रमाण के लिए कहा जाता है कि उत्तर प्रदेश के देहरादून जिले के जौनसार बाबर क्षेत्र में यह प्रथा सफलतापूर्वक चलती देखी जाती है। वहाँ मात्र बड़ा भाई विवाह करता है, छोटे सब भाई उसी भावज को अपनी पत्नी मानते हैं। जो बच्चे पैदा होते हैं, वे चाचाजी न कहकर बड़े पिताजी, मँझले पिताजी, छोटे पिताजी आदि कहते हैं। बड़े सुखपूर्वक वे परिवार चलते हैं। सीमित घर और जमीन में कितनी ही पीढ़ियाँ गुजारा करती रहती हैं। कई पति कमाने वाले रहने से पत्नी को भी प्यार-उपहार से लेकर घर की अर्थव्यवस्था ठीक रखने में सहायता मिलती है। घर, खेत, संपत्ति के बँटवारे का कोई प्रश्न नहीं उठता। संयुक्त परिवार एक गृह स्वामिनी के खूँटे से बँधा रहता है और कभी नहीं बिखरता। उस क्षेत्र में अनेक सभ्यताभिमानी पहुँचते हैं और अलग विवाह की बात कहते हैं; पर लोग अनुभव के आधार पर अपने प्रचलन को अधिक सुख-शांति भरा बताते हैं। उदारता, ममत्व और सामूहिकता की, श्रेष्ठता की बात कहकर, वे अपने को अधिक सुसंस्कृत बताते हैं। उलटे ईर्ष्या, अलगाव एवं संकीर्ण स्वार्थपरता के इलजाम इन उपदेशकों पर लगाते हैं। तर्क यह है कि जब हर क्षेत्र में सहकारिता और मिल-जुलकर रहने की वृत्ति लाभदायक है, तो विवाह ही क्यों उसका अपवाद रहे। यदि सोचने का तरीका बदल लिया जाए तो बहुपति प्रथा को अधिक सुखद, सुविधाजनक पाया जा सकता है।

तीसरा उपाय इन विचारकों की दृष्टि में समलिंगी विवाहों का प्रचलन है। वे कहते हैं कि नर का नर से और नारी का नारी से विवाह हो सकता है और उससे भी दांपत्य-जीवन की आवश्यकतायें

पूरी हो सकती हैं। जनखे संसार में बहुत बड़ी संख्या में हैं और वे पुरुष होते हुए भी नारी का स्थान ग्रहण करते हैं। आवश्यक नहीं कि इसके लिए एक नर, एक नारी बने। दोनों ही नर की स्थिति में रहकर जीवन व्यवस्था के हर पक्ष में सहयोगी रह सकते हैं। इसी प्रकार नारियाँ भी स्नेह-सूत्र में बँधकर, एक-दूसरे की साथी सहयोगी रह सकती हैं।

इस स्तर के प्रयोग भी पाश्चात्य देशों में हो रहे हैं। उन्हें देखकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जा रहा है कि प्रजनन वर्जित विवाह, बहुपति विवाह और समलिंगी विवाहों की तीनों प्रक्रियाएँ सहज, सरल, उपयोगी एवं व्यावहारिक हैं।

अमेरिकी 'साइंस डाइजेस्ट' में रोपल विश्वविद्यालय के डेन वाइन का एक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने अफ्रीका के कई ऐसे संगठनों का हवाला दिया है, जो महिलाओं की परस्पर शादी कराने की कानूनी पृष्ठभूमि बनाने में सहायता करते हैं। वहाँ हर वर्ष ऐसे सैकड़ों वैध विवाह होते हैं, जिनमें वर-वधू दोनों ही नारियाँ होती हैं। लेखक का कथन है कि नारियों में यह प्रवृत्ति सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता का उपभोग करने की दृष्टि से पनपी है।

नारी मुक्ति आंदोलन अब विश्वव्यापी होता जा रहा है, उसका एक नारा यह भी है कि—"क्यों नर मौज उड़ाये और क्यों नारी यातना सहे ?" वे कहती हैं दोनों को समान यातना सहने या मौज करने का अवसर मिलना चाहिए। उस आंदोलन की समस्याओं ने नारी समाज में प्रचलित समस्त शृंगार साधनों का बहिष्कार कर दिया है। वे कहती हैं कि नर-नारी के बीच वेश-विन्यास, पोशाक एवं हाव-भाव आदि की कोई भिन्नता न रहने देना चाहिए। नारी को नारी से विवाह करके जीवनयापन करने की प्रेरणा इस आंदोलन ने दी है।

जनसंख्या विचारकों की दृष्टि से इस आंदोलन में जनसंख्या नियंत्रण की सभी उपाय तो मौजूद हैं, परंतु इससे वर्तमान समाज व्यवस्था में गड़बड़ी ही उत्पन्न होगी। वे कहते हैं, वस्तुतः उत्पादन तो

नारी करती है। नर तो योगदान मात्र करता है, यदि मूल उत्पादक उसे खतरा समझने लगे तो समस्या सहज ही हल हो जाती है।

■ विलासिता अपंग बना देगी

जनसंख्या नियंत्रण के लिए इस तरह के प्रयास भले ही सफल हो जायें, परंतु इन कारणों से जो चरित्र संकट उत्पन्न हो जायगा, वह और भी भयंकर होंगे।

मानव का आदि वंश पाश्चात्य वैज्ञानिक पिथेकेंट्रोपस, सिनैट्रोपस और निएंटरथाल को मानते हैं। इनकी आकृति से आज के मानव से तुलना करने से बड़ा अंतर दिखाई देता है। क्रोमेग्नन की तुलना में तो अब का मनुष्य पहचाना भी नहीं जा सकता। पाश्चात्यों की बात पाश्चात्य जानें; पर हम अपने आपकी जिस अपौरुषेय, पूर्ण विकसित मनुष्य से वंश-उत्पत्ति की बात मानते हैं, उनकी शक्ति, शारीरिक रचना और सामर्थ्य की दृष्टि से आज के मनुष्य को तौलते हैं, तो वह बिल्कुल भिन्न और दीन-दुर्बल दिखाई देता है। इसका कारण उसकी अपनी भूलें हैं, जो उसने बिना विचारे की हैं, कर रहा है।

जीव वैज्ञानिकों के अनुसार इस प्रक्रिया-सृष्टि से सब जीव प्रभावित होते हैं। उदाहरणार्थ, आज का घोड़ा आरंभ में लोमड़ी की शक्ल का था। तब संभवतः उसकी प्रकृति भी मांसाहारी थी। वह जंगलों में छिपा पड़ा रहता था। धीरे-धीरे उसने स्वभाव बदला, घास खाने लगा। हिंसक प्रकृति के कारण पहले उसमें स्वाभाविक भय रहता था, उसे छोड़कर वह निर्भय मैदानों में रहने लगा। चिंताएँ छोड़् देने से जिस प्रकार दुर्बल लोगों के स्वास्थ्य भी बुलंद हो जाते हैं, उसी प्रकार वह भी अपने डीलडौल को सुडौल बनाता चला आया। धीरे-धीरे मनुष्य उसे प्यार करने लगा और उससे अस्तबलों की शोभा बढ़ने लगी। आज उसी लोमड़ी जैसे घोड़े की सुंदरता साधारण व्यक्तियों से लेकर राजाओं-महाराजाओं को भी

आकर्षित करती है उसकी शक्ति की तुलना मशीनों से की जाती है।

इसके विपरीत लुप्त जंतु-शास्त्र के अध्ययन से पता चलता है कि पहले किसी समय पृथ्वी पर कई सुडौल और चरम सीमा तक विकसित जीव पाये जाते थे, किंतु इन जंतुओं ने अपने रहने-सहने में हद दर्जे की कृत्रिमता उत्पन्न की और आद्यावधि ही नष्ट हो गये। आज मनुष्य जो उत्तरोत्तर विलासी जीवन की ओर अग्रसर होता जा रहा है तथा जनसंख्या अनियंत्रित रूप से बढ़ाता जा रहा है, उसे देखकर कुछ जीवशास्त्रियों का यह भी मत है कि मनुष्य को संभवतः कार्टूनी युग तक पहुँचने का अवसर ही न मिले, अर्थात् वह बीच में ही समाप्त हो जाये।

एक ओर जहाँ परिश्रम के अभाव और प्राकृतिक दबाव के कारण मनुष्य बिल्कुल क्षीणकाय हो जायेगा, वहाँ मानवीय शरीर और स्वभाव के विपरीत मांसाहार, मद्यपान आदि के कारण कुछ लोग ऐसे दैत्याकार भी हो सकते हैं, जिस तरह एक समय भूमध्य सागरीय टापुओं और चीन में भीमकाय मानव पैदा हो चुके हैं। यह लोग बड़े स्वेच्छाचारी और निर्द्वंद्व विचरण करने वाले थे। पशु-पक्षियों को मारकर कच्चा ही खा जाते थे। कालांतर में इन दैत्यों की चर्बी और मोटापे की बीमारी अनियंत्रित हो गई और वे कुछ ही दिनों में अपने आप नष्ट हो गये। इस प्रकार की दैत्याकृतियाँ भी सामने आ सकती हैं।

१९४२ में प्रोफेसर इलियट स्मिथ ने मिश्र की ३०००० ममी (मिश्र में एक विशेष प्रकार के मसाले में शवों को सुरक्षित रखने की परंपरा है, इन शवों को ही ममी कहते हैं) का परीक्षण किया। उच्च वर्ग वाले शवों को छोड़कर अन्य लोगों के दाँत का क्षय बहुत कम मिला। कुछ आर्थ्राइटिस, किडनी के स्टोन के तीन और एक गाल के स्टोन का रोगी मिला। रिकेट्स और कैंसर रोग के एक भी लक्षण किसी ममी में नहीं मिले। उस समय मिश्र के लोग भी अकृत्रिम और प्राकृतिक भोजन करते थे, वे लगभग पूर्ण शाकाहारी

थे। तब ऐसी स्थिति थी, किंतु अब स्थिति इससे सर्वथा भिन्न है, अकेले कैंसर के ही हजारों रोगी हैं, इससे रोगों की बढ़ोत्तरी और स्वास्थ्य में अवांछित परिवर्तन का पता चलता है। कुछ हजार वर्ष बाद तो संभवतः एक भी बच्चा शुद्ध जन्म नहीं लेगा, उनमें से अधिकांश कोई-न-कोई रोग लेकर जन्मेंगे, कई तो ऐसे भी होंगे जो आज के वीर्य रोगों से रोगी मनुष्य की क्रमागत संतान होने के कारण नपुंसक और लिंगहीन भी होंगे। आज की बीमारियों के सारे लक्षण संस्कार रूप में पहुँचने की बात विज्ञान पुष्ट ही कर चुका है, इसीलिए कोई संदेह नहीं, जो आने वाली कार्टूनी पीढ़ी अपने अनेक अंग ही खो दें। पैर की उँगलियों और बालों के बारे में तो जीवशास्त्री आशंका व्यक्त ही करते हैं कि हाथों में केवल एक-एक उँगली होगी और सारे के सारे बालों से पुरुषों को ही नहीं, स्त्रियों को भी मुक्ति मिल जायेगी।

इसका कारण है, मानवीय मस्तिष्क के घनक्षेत्र का निरंतर विस्तार। अब मनुष्य चलता बहुत अधिक है, पर बैठे-बैठे चलता है, रेलें, मोटरें, ताँगे और रिक्शे चलाते हैं। अब मनुष्य खाता बहुत है, पर भूख नहीं, जीभ खिलाती है, अब मनुष्य सुनता बहुत है, पर स्वाभाविक इच्छा के अनुरूप नहीं, मोटरें, रेल-गाड़ियाँ, जहाज, मिलों-कारखानों के भौंपू, मशीनों की गड़गड़ाहट सुननी पड़ती है। अब मनुष्य देखता बहुत है, पर आत्मा को बलवान् और सौंदर्यवान् बनाने वाले प्राकृतिक दृश्य, हरियाली और पुष्प, पौधों की शोभा नहीं; सिनेमा के दृश्य; कृत्रिम पेन्सिल से रंगे हुए चित्र-वह भी दूषित भाव पैदा करने वाले। पहले लोग पदयात्राएँ करते थे, संगीत और लोक-गीतों का आनंद लिया करते थे, इससे सूक्ष्म मनोजगत् को प्रफुल्लित और आत्मा को शांति देने वाले 'हारमोन्स' का स्राव होता रहता था और मनुष्य स्वस्थ और सुडौल बना रहता था। स्वाभाविक प्रक्रियाएँ दबकर मस्तिष्क की भूख बन गई हैं। सोचने-विचारने की प्रक्रिया से संबंध रखने वाले केंद्रों, स्नायु-कोषों और नस-तंतुओं में विकास होता जा रहा है। बढ़ी हुई जनसंख्या

को तो भोजन चाहिए, चाहे वह भीख माँगकर अमेरिका से मिले या समुद्र की मछलियों और अन्य जीवों को मारकर मिले। मस्तिष्क के अवयव बढ़ेंगे, तो उन्हें भी चारा चाहिए। उन्हें प्रकृति ने जितना नियत किया है, उससे अधिक मिल नहीं सकता, फलस्वरूप वे भी हिंसा करते हैं, अर्थात् आँख की, कान, नाक और पेट की शक्ति चूसते हैं, इससे होगा यह कि और अंग कमजोर होते चले जायेंगे। विचार-शक्ति प्रौढ़ होती चली जायेगी और इंद्रियों की क्षमता गिरती चली जायेगी अर्थात् यह कार्टून की आकृति वाले लोगों में शरीर ही क्षीण न होगा, वरन् वे बहरे भी हो सकते हैं, गूँगे भी, आँखों से कम दीखने और एक फर्लांग चलकर थक जाने की बीमारियाँ जोर पकड़ लेंगी। इनसे बचने के लिए तब श्रवण यंत्रों, अणुवीक्षण, दूरवीक्षण यंत्रों को लोग उसी तरह शरीर से लटकाये घूमा करेंगे, जैसे स्त्रियाँ तरह-तरह के जेवरों से जकड़ी रहती है। मनुष्य और कंप्यूटर में तब कोई विशेष अंतर न रह जायेगा।

मनुष्य को प्रकृति ने जो दाँत दिये हैं, वह शाकाहार के लिए उपयुक्त हैं। मांसाहारी जंतुओं के दाँत बड़े और नुकीले (कैनाइन टीथ) होते हैं। उनके पंजों के नाखून भी मुड़े हुए और तीखे होते हैं; क्योंकि मांस नोंचने में उनसे सहायता मिलती है, मनुष्य का पिछला इतिहास बताता है कि उनका मुख आगे निकला हुआ और जबड़े लंबे होते थे, क्योंकि तब उसे अधिकाधिक कच्चा खाना पड़ता था, यदि मनुष्य मांसभक्षी हुआ, तो उसके दाँत और उँगलियों के नाखून भालुओं, चीतों जैसे हो सकते हैं या फिर कच्चे और दाँतों से चबा-चबाकर खाने वाले खाने के कम उपयोग से उसका मुख भीतर को धँसता चला जायेगा। मुख ऐसा लगेगा, जैसे किसी गुफा में घुसने के लिए 'होल' (छेद) बनाया गया हो।

जीव वैज्ञानिकों का यह भी मत है कि आगे आने वाले लोगों के पंजे और पीठें छोटी हो जायेंगी। पीठ की मांसपेशियों का संबंध हाथ से है, हाथ से बोझा उठाने, इनको ऊपर नीचे, दाँये-बाँये मोड़ते रहने से पीठ में हलचल होती रहती है, इसलिये वह बढ़ती

और स्वस्थ भी बनी रहती है; पर हाथों से परिश्रम का काम न लेने व पैरों को पूरी तरह धरती से टिकाकर न चलने के कारण पीठ और पाँव की उँगलियों में अस्वाभाविकता आ जायेगी। अधिकतर बैठे रहने के फलस्वरूप मनुष्य कमर से झुका हुआ भी हो सकता है। उसके जोड़ों में प्रायः दर्द बना रह सकता है, यह बुराइयाँ तो अभी दिखाई देने लगी हैं। परिश्रम और सारे शरीर को हलचल में रखने के अभाव के कारण मनुष्य दुर्बल ही न होगा, टेढ़ा-मेढ़ा भी होगा, उससे वह और भी विचित्र लगा करेगा। यद्यपि होगा यह सब आज से कई पीढ़ियों बाद, पर यह लक्षण धीरे-धीरे हर अगली आने वाली पीढ़ी में उभरते चले जायेंगे। इस पाप के लिए पूरे तौर पर दोषी आज की पीढ़ी होगी, जो कृत्रिमता और यंत्रीकरण को आभूषण समझकर गले लगाती चली जा रही है।

अस्वाभाविक जीवन और संभावित विकृतियों के लिए हमारा आचरण दोषी होगा, पर आचरण चूँकि विचारों से पोषण पाते हैं, इसलिये हम यह मानते हैं कि सारा दोष हमारे सोचने की पद्धति का है। गलत निर्णय हमें पतन के गड्ढे में गिराते हैं, गलत इच्छायें हमारे जीवन के प्राकृतिक आनंद को नष्ट करती हैं। इच्छाओं की विकृति ही शारीरिक विकृति बनकर परिलक्षित होगी।

उदाहरण के लिए प्राचीनकाल में अफ्रीका में पाये जाने वाले जिराफों की गर्दन और पैर छोटे ही थे। उनको ऊँचे पेड़ों की पत्तियाँ खाने की आवश्यकता नहीं थी, जमीन की घास से काम चल जाता था, एक समय ऐसा (ग्लैशियल पीरियड) आया कि सारी पृथ्वी बर्फ से ढक गई। तब पृथ्वी में घास न रही, इसलिये जिराफ झाड़ियों के पत्तों को लपकने लगे। इसके लिए उन्हें गर्दन खींचनी पड़ती थी। आगे के पैरों को ऊँचा उठाना पड़ता था। फिर जब झाड़ियों की पत्तियाँ न रहीं तो और बड़े पेड़ों की पत्तियाँ प्राप्त करने के लिए उन्होंने अपने शरीर को और खींचा। परिणामतः उनकी गर्दन और आगे के पैर ऊँचे हो गये और वही जिराफ आज के भिन्न आकृति वाले जिराफ में बदल गया।

न चाहते हुए भी वातावरण के परिवर्तन प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। सबको आवश्यकतानुसार परिवर्तन की तीव्र इच्छा होगी; क्योंकि तब मनुष्य परिस्थितियों पर नहीं, परिस्थितियाँ मनुष्य पर हावी होंगी। तीव्र इच्छा के कारण बनावट में अंतर आने से नये शरीरों के विकास की बात प्रत्येक जीवशास्त्री मानते हैं, इसलिये अब इसमें कोई संदेह नहीं रह गया कि यदि मनुष्य ने अपनी इच्छायें, अपने वर्तमान भौतिकता की ओर बढ़ रहे कदमों में परिवर्तन न किया; तो उसके शरीरों का एकदम बदलकर विलक्षण आकृति धारण कर लेने में कोई संदेह नहीं है।

आज की बुद्धिमत्ता से यह आग्रह है कि उसे भावी पीढ़ी को इस उपहासास्पद स्थिति से बचाने के लिए अपने आपको इतना निर्बल नहीं बना लेना चाहिए कि परिस्थितियों को सँभालना कठिन हो जाये। हमें बढ़ती हुई भौतिकता को रोककर जीवन के जो अंश अधूरे और अनियमित पड़े हैं, उन्हें ठीक करके आने वाली संतानों को अधूरा और अनियमित बनाने का पाप नहीं ही करना चाहिए।

मनुष्य को निर्बल बनाने वाली दुष्प्रवृत्तियों में सर्वाधिक विनाशकारी है—कामुकता-अश्लीलता। संतान की संख्या सीमित रखने के लिए फिर भी लोग किंचित् संयम से काम लेते हैं। परंतु जब संतान के जन्म की संभावना क्षीण हो जाती है, तो कामुकता को वासनालिप्त होकर और अधिक खुलकर खेलने का मौका मिलता है। आत्यंतिक भोग से लेकर अनुचित अनैतिक संबंधों की बढ़ती प्रवृत्ति समाज के नैतिक स्तर को कहाँ ले जाकर छोड़ेगी—कुछ कहा नहीं जा सकता।

□□

विलासिता कहाँ ले जाकर छोड़ेगी ?

विलासिता और क्षणिक आनंद की प्राप्ति के लिए पहले ही मनुष्य अपने स्वभाव की कमजोरियों से प्रेरित होकर न जाने क्या-क्या करता रहता है ? संतति निरोधक उपलब्ध कृत्रिम साधनों से तो मनुष्य में और भी उच्छृंखलता बढ़ने की संभावना बनी है। इस उच्छृंखलता के लिए केवल संतति निरोधक कृत्रिम साधनों को ही जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता, फिर भी ये साधन एक सीमा तक तो उच्छृंखलता बढ़ाने में योग देते ही हैं।

संतान के जन्म को रोकने, काम तृप्ति के शारीरिक परिणाम गर्भधारण और उनसे उत्पन्न होने वाली सामाजिक कठिनाइयों से बचने में जब से सफलता प्राप्त की गयी है, तब से कामुक विलासिता और भी नंगा नाच दिखाने लगी है। विलासिता के प्रसाधनों और तुरंत प्रसन्नता पाने के लिए नशेबाजी की आदतों के कारण लोगों में कामोपभोग की लालसा और भी अत्यंत उग्र हो उठी है। इस आग में घी डालने के लिए संतति निरोध के कृत्रिम उपाय सहायक ही हुए हैं। पाश्चात्य देशों में कामोपभोग की दृष्टि से एक नई विचारधारा अत्यंत प्रबल वेग से यह उठी है कि यौनचर्या को भावनात्मक न बनने दिया जाए और दांपत्य-जीवन को यौन सदाचार के बंधनों में न बाँधा जाए। घर-परिवार चलाने के लिए विवाह किये जायें; पर पति-पत्नी दोनों को ही रतिक्रिया करने की, अन्यत्र उपभोग करने की पूरी छूट रहे। इसमें कोई किसी का बाधक न बने, वरन् एक-दूसरे की सहायता करके उसके मनोरंजन को अधिक सुविधा प्रदान करते हुए विश्वस्त मित्रता का परिचय दें।

अमेरिका में इन दिनों 'क्लब १०१' नामक ऐसे सहस्रों संस्थान हैं, जहाँ नर-नारी स्वच्छंद यौनाचार की तृप्ति के लिए नित नये साथी सहज ही प्राप्त करते रहते हैं। इस मान्यता वाले व्यक्तियों

को 'स्विंगर्स' कहा जाता है। कहते हैं कि इस वर्ग के नर-नारियों की संख्या वहाँ लाखों से बढ़कर करोड़ों तक पहुँच गई है।

'स्विंगर्स' अब पाश्चात्य देशों में कोई अनैतिक वर्ग नहीं रहा वरन् उसका अपना एक दर्शन है। नृतत्व शास्त्री गिलवर्ट वारटैल की 'ग्रुप सैक्स' (सामूहिक भोग) पुस्तक एक करोड़ से अधिक बिकी है। कैलीफोर्निया के मनोवैज्ञानिक जेम्म ग्रोल्ड ने उस आंदोलन को एक लोक मान्यता प्राप्त प्रचलन बताया है और कहा है कि प्रायः २० लाख विवाहित और अविवाहित नर-नारी 'क्लब १०१' विनोद गृहों की सदस्यता स्वीकार कर चुके हैं। इस विषय पर प्रायः ५० पत्र-पत्रिकाएँ लेख और विज्ञापन छपती हैं।

पाश्चात्य देशों में 'दी सेक्स बुक' की ३० लाख प्रतियाँ पिछले दिनों बिकी हैं। जर्मनी के लूथरिन युवा केंद्रों ने इसे अपनी पाठ्य पुस्तक बनाया है। जे० हरवले ने इसका अमेरिकी संस्करण तैयार किया है और विलमैक ब्राइड ने इसे चित्रों से सजाया है, जिसमें रतिक्रिया का प्रत्यक्ष चित्रण किया गया है और समलिंगी मैथुन एवं आत्मरति को निरापद बताया गया है। कामोपभोग को अधिक समय तक अधिकाधिक उत्साहवर्धक, अधिक कौतुक-कौतूहलपूर्ण कैसे बनाया जा सकता है ? यही सुविस्तृत शिक्षण इन पुस्तकों में हैं। वे यह भी कहते हैं कि यौनाचार को समस्त कानूनी और सामाजिक बंधनों से हटाकर उसे अन्न, जल, वायु की तरह स्वच्छंद उपयोग की प्रक्रिया बना दिया जाना चाहिए।

यही बात स्वादिष्ट व्यंजनों के आहार से जिह्वा की स्वाद तृप्ति के बारे में कही जा रही है। प्रकृति-प्रेरणा के अनुरूप आहार-विहार के आचरण को दकियानूसी बताया जा रहा है और आहार-विहार को प्रत्येक प्रतिबंध से मुक्त, मात्र प्रसन्नता वृद्धि के लिए प्रयुक्त करने की बात का जोरों से समर्थन हो रहा है। साथ ही साथ इस उद्धत उच्छृंखलता के दुःखद परिणाम भी सामने आ रहे हैं।

अमेरिका की राष्ट्रीय मानसिक स्वास्थ्य समिति की एक रिपोर्ट में बताया गया है कि उस देश में १७ में से १ व्यक्ति मानसिक रोगों से पीड़ित है। इनमें से आधे अस्पतालों में पड़े रहते हैं और आधे अपने घरों में ही सनकते रहते हैं। दाँतों की खराबी के संबंध में तो स्थिति और भी अधिक दयनीय है। प्रायः आधी जनता के दाँत खराब हैं। इस संकट के संदर्भ में रिपोर्ट में कहा गया है कि इस मानसिक रुग्णता और दाँतों की खराबी का कारण है, अमेरिकनों की आर्थिक समृद्धि, जिसका सही उपयोग न जानने के कारण वे ठूँस-ठूँसकर खाते हैं—भरपेट शराब पीते हैं और अंधाधुंध दवाइयाँ खाते हैं।

सन् १९८० में अमेरिका में ३ करोड़ ६० लाख व्यक्ति मानसिक तनाव के अभ्यस्त रोगी थे। उन्हें निद्रा लाने एवं तनाव घटाने के लिए मनःशांति प्रदायक नशीली गोलियाँ खानी पड़ती थी। इस प्रकार की ५० गोलियों की कीमत प्रायः ३० रुपये के बराबर होती है। यह गोलियाँ हर दिन कई-कई खानी पड़ती हैं, अस्तु उन पर उस देश में प्रायः १ अरब रुपया हर साल खर्च होता है। स्वार्थपूर्ण व्यक्तिवाद और अनियंत्रित इंद्रिय भोगों के फल आर्थिक बर्बादी, मानसिक असंतुलन और असामाजिक एकाकी जीवन के रूप में सामने आना ही चाहिए, सो क्रमशः आता ही जा रहा है।

अमेरिकी जन-गणना की रिपोर्ट है कि १९७० के दशक में तलाकों की संख्या ८० प्रतिशत अधिक बढ़ गई हैं। वर्ष १९७० के पूर्व हर वर्ष प्रायः चार लाख तलाक स्वीकार होते थे, पर अब उनकी संख्या दस लाख से भी अधिक बढ़ गई है। परिस्थितियों को देखते हुए यह अनुमान लगाया जाता है कि इस शताब्दी के अंत तक यह वृद्धि अब की अपेक्षा दूनी गति से बढ़ जायेगी।

■ विलासिता मार ही डालेगी

१६७३ विवाह के पीछे अधिक-से-अधिक १ तलाक। यह स्थिति १९८० की संयुक्त राज्य अमेरिका की है। इस वर्ष यहाँ

५३०६३७ नये विवाह हुये, इनमें से ३१७३५ का संबंध विच्छेद (तलाक) हुआ। इसके बाद भौतिक सुख-सुविधाओं में तेजी से वृद्धि हुई, इस वृद्धि से भी तीव्र गति पारिवारिक जीवन में अशांति की रही। १९६७ में अमेरिका में ९९१३००० नये विवाह संबंध विच्छेद हुये, जिसमें से लगभग १ तिहाई अर्थात् ५३४००० लोगों के संबंध विच्छेद हुये। नये विवाहों की प्रतिशत वृद्धि जहाँ २६० प्रतिशत थी, वहाँ तलाकों में १६०० प्रतिशत की वृद्धि यह सोचने को विवश करती है कि बढ़ती हुई भौतिकता जन-जीवन के लिए भूखे रहने से भी बढ़कर उत्पीड़क है।

बढ़ती हुई यांत्रिकता और भौतिकता ने मनुष्य को इतना विलासी बना दिया है कि उसे यौन-सुख के अतिरिक्त भी संसार में कोई सुख, कुछ कर्तव्य और उत्तरदायित्व हैं, यह सोचने को भी समय नहीं मिलता। अनियंत्रित भोग-वासना ने योरोप के सारे समाज को चरित्र भ्रष्ट कर दिया है। कोई भी पति, पत्नी पर और पत्नी, पति पर यह विश्वास नहीं कर सकती कि वह कब, किस नये साथी का चुनाव कर लेगा ? सौंदर्य और शरीर के आकर्षणों के पीछे धुत्त मनुष्य गुणों की, चरित्र की बात सोच ही नहीं पाता। उसी का परिणाम है, आज अकेले अमेरिका में ३० लाख महिलायें ऐसी हैं, जिनके विवाह संबंध हो गये हैं, पर या तो उन्होंने स्वयं या उनके पतियों ने उन्हें छोड़ दिया है।

दांपत्य जीवन में जहाँ निष्ठा नहीं होती, उस समाज के युवक-युवतियाँ दिग्भ्रांत होते हैं। उनकी दिग्भ्रांति उद्दंडता, अराजकता, विद्रोह और तोड़-फोड़ के रूप में प्रकट होती है। वह स्थिति उतनी दुखांत नहीं होती, जितनी मानसिक शांति के नाम पर परस्पर आकर्षण का भ्रम। प्रौढ़ पीढ़ी के प्रति कोई श्रद्धा उनमें होती नहीं, फलतः सांसारिक अनुभवों का लाभ प्राप्त करने की अपेक्षा पानी की बाढ़ की तरह उन्हें जो अच्छा लगता है, उधर ही दौड़ पड़ते हैं। अनैतिक संबंधों की बाढ़ आज उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। यह आँधी अभी दूसरे देशों में अधिक है, पर कोई संदेह नहीं,

कि अपने देश में बढ़ रहे पाश्चात्य प्रभाव के कारण वह स्थिति यहाँ भी न बन जाये।

सोवियत रूस को अपने चरित्र और नैतिकता का बड़ा गर्व रहता है। वहाँ भी ६ बच्चों में से १ बच्चा निश्चित अवैध संबंध से जन्मा होता है। न्यूजीलैंड में ८ के पीछे १, इंग्लैंड में १३ में १, आस्ट्रेलिया में १२ में १, अमेरिका में १४ में १ बच्चा ऐसा होता है, जिसके माता-पिता विवाह से पूर्व ही यौन संबंध स्थापित कर चुके होते हैं। इस तरह की अवैध संतानों की संख्या अकेले अमेरिका में ही ३ लाख से भी अधिक है।

वर्तमान पीढ़ी की विलासी-प्रवृत्ति आने वाली संतानों के लिए किस तरह घातक बनती जा रही है, उस पर दृष्टि दौड़ायें तो स्थिति कुछ ऐसी विस्फोटक और चौंकाने वाली दिखेगी कि हर व्यक्ति यही सोचेगा कि सौ वर्ष के पीछे इस संसार में पाये जाने वाले सभी मनुष्य शंकर जी की बारात की तरह टेढ़े, काने, कुबड़े, अंधे, लूले, लँगड़े होंगे; किसी का पेट निकला हुआ, किसी का आवश्यकता से अधिक पिचका हुआ हो, तो कोई आश्चर्य नहीं, वह सिद्ध-महात्माओं की तरह पूज्य और सबका नेता हुआ करेगा। यदि आज का संसार अपनी तथाकथित प्रगति के पाँव रोकता नहीं, तो क्या अमेरिका, क्या भारत इस स्थिति के लिए सबको तैयार रहना चाहिए।

विलासिता का एक दुर्गुण यह भी है कि वह भोग से बढ़ती है, शांत नहीं होती। वासना की भूख न केवल अनैतिक आचरण करने को बाध्य करती है, वरन् शरीर को विषैले पदार्थों से उत्तेजित कर और अधिक भोग का आनंद लूटने को दिग्भ्रांत करती है। अमेरिका में आज १५ करोड़ व्यक्ति चरस, गाँजा, कोकीन आदि में से किसी-न-किसी का नशा अवश्य करते हैं, फ्रांस में अब गणना उल्टी हो चुकी है, अर्थात् यह पूछा जाता है कि कितने प्रतिशत लोग नशा नहीं करते। यह औसत ५ से अधिक नहीं बढ़ता। पश्चिम जर्मनी में स्त्री-पुरुषों में होड़ है, कौन अधिक चरस पिये ? वहाँ के

५० प्रतिशत पुरुष नशेबाज हैं, तो स्त्रियाँ २५ प्रतिशत। रूस के लोग प्रति वर्ष साठ अरब रुपये की शराब पी जाते हैं।

इसका उनके स्वास्थ्य पर पड़ा प्रभाव उतना घातक नहीं, जितना आने वाली पीढ़ी पर पड़ता है। मनुष्य शरीर में प्रजनन कोश (जेनेटिक सेल्स) सबसे अधिक कोमल होते हैं, इन्हीं में बच्चों के शरीर और मन को निर्धारित करने वाले क्रोमोसोम (संस्कार कोश) पाये जाते हैं। नशों के कारण यह गुणसूत्र अस्त-व्यस्त हो जाते हैं, उसी का कारण होता है कि बच्चे काने, कुबड़े, लूले, लँगड़े पैदा होते हैं। इंग्लैंड में ४० बच्चों के पीछे एक बच्चा अनिवार्य कुरूप होता है। आस्ट्रेलिया में ५० में १, स्पेन में ७० के पीछे १ और हांगकांग में ८५ में से १ लँगड़ा-अपाहिज पैदा होता है। अमेरिका में प्रति वर्ष २ लाख ५० हजार बच्चे पैदा होते हैं, जिनके शरीर का कोई-न-कोई अंग विकृत अवश्य होता है। इस समय वहाँ के विभिन्न अस्पतालों तथा घरों में लगभग १ करोड़ १० लाख बच्चे ऐसे हैं, जिन्हें किसी-न-किसी रूप में विकलांग कहा जा सकता है, वह न तो किसी मोटर दुर्घटना का परिणाम होगा, न मोच या चोट का। स्पष्ट है कि यह सब लोगों के आहार-विहार और जीवन पद्धति का दोष है, जो आगामी पीढ़ी को दोषी बना रहा है।

यौन-सुख की अनियंत्रित बाढ़ आज के भौतिकतावाद की भयंकर देन है। वह लोगों के स्वास्थ्य किस बुरी तरह से नष्ट कर रही है, इसका सही अनुमान तो योरोप के अस्पतालों में जाकर ही हो सकता है, पर यदि किसी को उसकी जानकारी देनी ही हो, तो यह कहना ठीक होगा कि जिस तरह अपने देश के अशिक्षित लोगों में अंध-विश्वास की बहुतायत है। उसी तरह योरोपीय देशों में अधिकांश व्यक्ति यौन रोगों से पीड़ित मिलेंगे। 'न्यूजवीक' साप्ताहिक ने अपने १० अक्टूबर, १९६८ के अंक में लिखा है कि योरोप में ४० हजार महिलायें ऐसी हैं, जो इसी कारण कैंसर से बीमार हैं और उनकी कोई चिकित्सा नहीं है। इसी प्रकार अमेरिका के डॉक्टरों ने भी यौन रोगों को रोक सकने की अपनी सामर्थ्य से हाथ ढीले कर दिये हैं।

यह तूफानी झंझा भौतिकतावाद की चलाई हुई है, जो मनुष्य उससे बचना चाहता है, वह आध्यात्मिकता का आश्रय ले, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है। आध्यात्मिकता ही स्वास्थ्य, सदाचार, शांति और नैतिक मूल्य स्थिर रख सकती है।

■ वेशभूषा, फैशन और विलास

भौतिकवाद-भोगवाद की चलाई हुई यह झंझा मुक्त यौनाचार के रूप में तो एक परिणति मात्र है। अन्यथा वेशभूषा, रहन-सहन, आचार-विचार और सामाजिक जीवन तक में इसने अनेकानेक रूप धारण किये हैं। वेशभूषा को ही लें, उद्धत प्रदर्शन और तड़क-भड़क के लिए अपनाया जाने वाला वेश-विन्यास शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को बुरी तरह बर्बाद करता है।

आधुनिक फैशन और मॉडर्न रहन-सहन शरीर स्वास्थ्य पर क्या प्रभाव डालता है ? यह जानने के लिए पश्चिमी देशों के कई मनीषियों ने शोध की है। इस संबंध में गहन अध्ययन, निरीक्षण और परीक्षण के बाद अमेरिकन मेडिकल एसोसिएशन के डॉ० लिंडा एलेन ने लिखा है—मुझे बड़ा कौतूहल हुआ, जब मैंने त्वचा रोग की चिकित्सा के आँकड़ों पर दृष्टि दौड़ाते हुए पाया, कि वह अधिकांश किशोरों तथा युवा-युवतियों को ही अधिक मात्रा में हो रहे हैं। यह बिलकुल उल्टी बात थी। इस विस्मय ने मुझे इस पर गंभीरता से जाँच करने की प्रेरणा दी।

डॉ० एलेन की जाँच के निष्कर्ष फैशन की अंधी दौड़ दौड़ाने वालों को चौंका देने वाले हैं। उनका कहना है कि शरीर को छूती तंग पोशाकें पहनने के कारण किशोरों तथा युवक-युवतियों के शरीर में रक्त त्वचा, पपड़ीदार त्वचा शोथ, विंटर-इच तथा खुजली जैसे त्वचा रोग तेजी से बढ़ रहे हैं, उन्होंने यह भी चेतावनी दी है कि यदि युवक-युवतियों ने तंग पोशाकें पहननी न छोड़ीं, तो आगे त्वचा रोग एक भीषण समस्या बन सकता है, कुछ रोग तो असाध्य और वंशानुगत तक हो सकते हैं।

वस्त्र पहनने में स्वच्छता, सफाई और कला का ध्यान रखा जाये, इसमें कुछ हानि नहीं, वरन् यह एक प्रकार से आवश्यक है; पर उसके साथ ही स्वास्थ्य एवं सामाजिकता के विवेकपूर्ण पहलू भी उपेक्षित नहीं किये जाने चाहिए। वस्त्र पहनने का उद्देश्य जहाँ शरीर के उन अंगों को ढकना है, जो लोगों की मनोवृत्ति दूषित कर सकते हैं, वहाँ यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि स्वास्थ्य के नियमों का उल्लंघन न हो, अर्थात् मौसम का प्रभाव सारे शरीर पर पड़ते रहना चाहिए। जिन शरीरों में ताजी हवा का स्पर्श नहीं बना रहता, वे मौसम के थोड़े-से भी परिवर्तन सहन नहीं कर पाते। थोड़े से ही परिवर्तन से शरीर गड़बड़ करने लगता है। भारतीय वेश-भूषा का निर्धारण इन बातों को ध्यान में रखने के साथ-साथ कला की दृष्टि से भी उच्चकोटि का है, किंतु आज का फैशन उसे नष्ट कर देने पर तुल गया है। अब जो तंग कपड़े पहने जाते हैं, वह शरीर में इस तरह मढ़े होते हैं कि उनसे काम-अंगों के प्रति लोगों का आकर्षण बढ़ता है, लोगों में मनोविकार उत्पन्न होते हैं, साथ ही उनसे स्वास्थ्य में भी बुरा असर पड़ता है। डॉ० एलेन का कहना है कि इन तंग कपड़ों के यांत्रिक दबाव और शरीर की रगड़ से ही त्वचा रोग पैदा होते हैं। यह पहलू ही कम चिंताजनक नहीं है।

इन दिनों आस्ट्रेलिया में प्रैक्टिस कर रहे अंग्रेज डॉ० लैंडन कोटने ने भी फैशन शास्त्र पर खोज की और बताया कि मिनी स्कर्ट तथा दूसरे अस्वाभाविक वस्त्र पहनना न केवल शारीरिक विकास में बाधा उत्पन्न करता है, वरन् उसके कारण मस्तिष्क में घबराहट और स्नायविक तनाव बढ़ता है, जो उभरती पीढ़ी के लिए एक प्रकार का अभिशाप है, इससे किशोरों का बौद्धिक तथा भाव विकास रुकता है।

उन्होंने बताया कि मिनी स्कर्ट पहनने वाली लड़कियों को सार्वजनिक स्थानों ट्रेनों, बसों में एक टाँग के ऊपर दूसरी टाँग चढ़ाकर बैठना पड़ता है। अधिक क्रासिंग के कारण एबडक्टर पेशियाँ सिकुड़ जाती हैं, जिससे कद छोटा हो जाने की संभावनाएँ

बढ़ जाती हैं, साथ ही इस तरह की अस्वाभाविक पोशाक पहनने वालों का अपने ही ऊपर ध्यान बना रहता है। हर आगंतुक के प्रति उनमें घबराहट-सी होती है, जो उनमें स्नायविक दुर्बलता पैदा करती है। यदि नई पीढ़ी को इन दोषों से बचाना है तो फैशन की बाढ़ को रोकना पड़ेगा। उसकी आज्ञा, संस्कृति ही नहीं विज्ञान भी नहीं देता।

■ वेशभूषा की मनोवैज्ञानिक कसौटी

एक-दो नहीं, संपूर्ण ६ वर्ष तक उसने पार्कों, थियेटरों, छविगृहों और दूसरे-दूसरे सार्वजनिक स्थानों के चक्कर काटे। एक नहीं, हजारों फोटोग्राफ लिए और जिस-जिसके फोटोग्राफ लिए, उन-उनके व्यक्तिगत जीवन का परिचय और अध्ययन किया। सोचते होंगे, होगा कोई व्यर्थ के कामों में समय गँवाने वाला फक्कड़; पर नहीं, वह हैं लंदन के एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक श्री नेक हेराल्ड, जिन्होंने इतने वर्ष के अध्ययन से महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकाला कि वेशभूषा का मनुष्य के चरित्र, स्वभाव, शील और सदाचार से गहनतम संबंध है।

पुरुषों की तरह की वेशभूषा धारण करने वाली नवयुवतियों का मानसिक चित्रण और उनके व्यवहार की जानकारी देते हुए श्री हेराल्ड लिखते हैं—ऐसी युवतियों की चाल-ढाल, बोलचाल और उठने-बैठने के तौर-तरीकों में भी पुरुष के से लक्षण प्रकट होने लगते हैं। वे अपने आपको पुरुष-सा अनुभव करती हैं, जिससे उनके लज्जा आदि नारी सुलभ गुणों का ह्रास होने लगता है। स्त्री जब स्त्री न रहकर पुरुष बनने लगती है, तब वह न केवल पारिवारिक उत्तरदायित्व निबाहने में असमर्थ हो जाती है, वरन् उसके वैयक्तिक जीवन की शुद्धता भी धूमिल पड़ने लगती है। पाश्चात्य देशों में दांपत्य जीवन में उग्र होता हुआ अविश्वास उसी का एक दुष्परिणाम है।

श्री हेराल्ड ने अपना विश्वास व्यक्त किया कि भारतीय आचार्यों ने वेशभूषा के जो नियम और आचार बनाये, वह केवल भौगोलिक अनुकूलता ही प्रदान नहीं करते, वरन् स्त्री-पुरुषों की शारीरिक बनावट का दर्शक पर क्या प्रभाव पड़ता है ? उस सूक्ष्म विज्ञान को दृष्टि में रखकर भी बनाये गये हैं, वेशभूषा का मनोविज्ञान के साथ इतना बढ़िया सामंजस्य न तो विश्व के किसी देश में हुआ न किसी संस्कृति में, यह भारतीय आचार्यों की मानवीय प्रकृति के अत्यंत सूक्ष्म अध्ययन का परिणाम था।

आज पाश्चात्य देशों में, अमेरिका में सर्वाधिक भारतीय पोशाक साड़ी का तो विशेष रूप से—तेजी से आकर्षण और प्रचलन बढ़ रहा है, दूसरी ओर अपने देश के नवयुवक और नवयुवतियाँ विदेशी और सिनेमा टाइप वेशभूषा अपनाते चले जा रहे हैं यह न केवल अंधानुकरण की मूढ़ता है, वरन् अपनी बौद्धिक, मानसिक एवं आत्मिक कमजोरी का ही परिचायक है।

यदि इसे रोका न गया और लोगों ने पैंट, कोट, सूट, बूट, हैट, स्कर्ट, चुस्त पतलून-सलवार आदि भद्दे और भोंड़े परिधान न छोड़े तो और देशों की तरह भारतीयों का चारित्रिक पतन भी निश्चित ही है। श्री हेराल्ड लिखते हैं कि सामाजिक संस्थाओं को इस संबंध में अभी विचार करना चाहिए अन्यथा वह दिन अधिक दूर नहीं, जब पानी सिर से गुजर जायेगा।

■ भौतिक समृद्धि ही सब कुछ नहीं

अमेरिका आज संसार का सबसे धनी देश है। उसके पास अपार धनराशि है। धन के साथ-साथ यहाँ शिक्षा, विज्ञान एवं सुख-साधनों का प्रचुर मात्रा में अभिवर्धन हुआ है। उपार्जन की तरह उन लोगों ने उपभोग की कला भी सीखी है। इसलिये वहाँ के निवासी हमें धनाधिप देवपुरुषों की तरह साधन संपन्न और आकर्षक दिखाई पड़ते हैं। हर तीन में से एक के पीछे एक कार है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस परिवार में स्त्री, पुरुष और एक बच्चा होगा, वहाँ

एक कार का औसत आ जायेगा। टेलीविजन, रेफ्रिजरेटर, हीटर, कूलर, टेलीफोन तथा दूसरे सुविधाजनक घरेलू यंत्र प्रायः हर घर में पाये जाते हैं। विलासिता के इतने अधिक साधन मौजूद हैं, जिनके लिए भारत जैसे गरीब देशों के नागरिक तो कल्पना और लालसा ही कर सकते हैं।

इतने पर भी उस देश की भीतरी स्थिति बहुत ही खोखली है। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से वे खोखले बनते जा रहे हैं। संयुक्त कुटुंब, दांपत्य निष्ठा, संतान-सद्भाव एवं सामाजिक सहयोग क्रमशः घटता ही चला जा रहा है। बढ़ती हुई व्यस्तता एवं औपचारिकता के कारण हर व्यक्ति एकाकी बनता चला जा रहा है। किसी को किसी पर न तो भरोसा है, और न कठिन समय में किसी विश्वस्त सहयोगी का विश्वास। नशा पीकर अथवा नग्न यौन उत्तेजना के मनोरंजन देखकर अथवा इंद्रिय तृप्ति के साधन अपनाकर किसी प्रकार गम गलत करते रहते हैं। भीतर एकाकीपन और खोखलापन उन्हें निरंतर कचोटता रहता है।

अमेरिकन पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों, सरकारी तथा गैर-सरकारी रिपोर्टों के आधार पर उस देश के निवासियों की जो भीतरी स्थिति सामने आती है, वह वस्तुतः बड़ी करुणा उत्पादक है। कभी-कभी तो यहाँ तक सोचना पड़ता है कि उन सुसंपन्न लोगों की तुलना में हम निर्धन अशिक्षित कहीं अच्छे हैं, जो किसी प्रकार संतोष की रोटी खा लेते हैं और चैन की नींद सो लेते हैं।

स्वास्थ्य रिपोर्टों के अनुसार, अमेरिका में प्रायः १ करोड़ व्यक्ति अर्थात् ३० में से १ व्यक्ति मानसिक रोगों से ग्रसित है। ९५ लाख व्यक्ति याने ·५ प्रतिशत पागलपन के शिकार हैं। प्रायः डेढ़ करोड़ व्यक्ति सनकी हैं। १२ बच्चों में से एक मानसिक रोगी पाया जाता है। अस्पतालों की रिपोर्टों के अनुसार अब से सौ वर्ष पूर्व जितना मानसिक रोगों का प्रचार था, अब उसका अनुपात १२ गुना अधिक बढ़ गया है।

द्वितीय महायुद्ध में एक करोड़ ४० लाख व्यक्तियों की जाँच कराई गई थी कि इतनों में से सेना में भर्ती होने योग्य स्वास्थ्य कितनों का है, उनमें से सिर्फ २० लाख व्यक्ति काम के निकले और शेष 'अनफिट' ठहरा दिये गये।

संसार में पागलों की सबसे अधिक संख्या वाला देश अमेरिका है, वहाँ प्रति दो सौ व्यक्ति पीछे एक पागल है। सबको तो अस्पतालों में जगह नहीं मिलती, पर जो इलाज के लिए दाखिल होते हैं, उन्हीं पर ७५,००० करोड़ डालर की गगनचुंबी धनराशि सरकार को खर्च करनी पड़ती है।

इन दिनों वहाँ ढाई करोड़ से अधिक व्यक्ति अर्थात् जनसंख्या का ग्यारहवाँ भाग किसी-न-किसी शारीरिक रोग से ग्रसित है। इनमें से ७० लाख तो अस्पतालों की चारपाई ही पकड़े रहते हैं। कैंसर तो गजब की गति से बढ़ा है। ५५ साल की उम्र के बाद पुरुषों में से हजार के पीछे आठ की और महिलाओं में से १४ की मृत्यु कैंसर से होती है। दमा, मधुमेह, रक्तचाप, हृदय रोग, अनिद्रा, अपच यह पाँच अब सभ्यता के आवश्यक अंगों में जुड़ गये हैं। प्रायः हर परिवार में इन बीमारियों में प्रयुक्त होने वाली दवाएँ मौजूद मिलेंगी।

गर्भ निरोध के उपकरणों से प्रायः प्रत्येक वयस्क नर-नारी परिचित और अभ्यस्त है, फिर भी गर्भ धारण होते रहते हैं और गर्भपात कराने पड़ते हैं। आमतौर से गर्भपात के लिए कुनैन स्तर की दवाएँ दी जाती हैं, जिनका प्रभाव प्रजनन संस्थान पर चिरकाल तक बना रहता है और जो भी बच्चे जन्मते हैं, वे उन दवाओं के असर का कुछ न कुछ भाग अपने शरीर में लेकर आते हैं। सिर दर्द की एक दवा 'एस्प्रीन' अकेली ही एक करोड़ चालीस लाख पौंड वजन की बिक जाती है। नींद लाने वाली दवाएँ छह लाख पौंड वजन की खपती हैं। कब्ज तो तीन-चौथाई लोगों को रहता है। इसलिए उसकी दवाएँ तो इन सबसे अधिक मात्रा में होती हैं। सिनेमा, टेलीविजन के व्यसन ने आँखों की रोशनी इस कदर घटा दी है कि चश्मा भी

कोट-पेंट की तरह एक आवश्यक परिधान बन गया है। दाँत तो पचास फीसदी के खराब हैं। शराब के आदी वयस्कों में से आधे लोग हैं। सिगरेट तो ७५ प्रतिशत लोग पीते हैं। उससे प्रायः बालक ही बचे होते हैं और कुछ प्रतिशत महिलाएँ भी नहीं पीतीं।

होने वाले विवाहों में से प्रतिवर्ष तीन के पीछे एक तलाक का औसत आता है। हर वर्ष प्रायः ग्यारह लाख पचास हजार गंभीर अपराध होते हैं, उनतीस हजार आत्महत्याएँ करते हैं, ७ से १७ वर्ष की आयु वाले अल्प वयस्कों में से दो लाख पैंसठ हजार को गिरफ्तार करके पुलिस अदालतों के समक्ष प्रस्तुत करती है।

उस देश में 'एस्प्रीन' दवा का अब इतना अधिक प्रचलन हो गया है कि वह गाँव-गाँव और घर-घर जा पहुँची है। सिर दर्द या दूसरे दर्द अनुभव में न आयें, इसके लिए उसका प्रयोग होता है। अकेले अमेरिका में उसकी वार्षिक खपत २७,०००,००० पौंड है। मानसिक उद्वेगों ने धीरे-धीरे उस देश में सिरदर्द के एक चिरस्थायी मर्ज के रूप में अपने पैर जमा लिये हैं। नींद लाने की गोलियाँ भी उस देश में अब एक दैनिक आवश्यकता की वस्तु बन गई हैं।

यह तथ्य बताते हैं कि भोगवाद से प्रेरित भौतिक समृद्धि को ही बढ़ाते रहना एकांगी तथा हानिकारक है। शिक्षा, विज्ञान, विचार, साहित्य, उद्योग, व्यवसाय और साधन-सुविधाओं का विकास करना तथा समृद्धि बढ़ाना अच्छी बात है, लेकिन यदि यहीं तक सीमित रह जाया गया, तो उससे लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक है। इन साधनों के साथ मनुष्य का नैतिक और चारित्रिक स्तर भी बढ़ाते चलना मनुष्य समाज के लिए हितकर होगा। इस ओर ध्यान दिये बिना मात्र भौतिक समृद्धि को बढ़ाते रहने, विलासिता के साधनों में अभिवृद्धि करतें रहने से मनुष्य के अस्तित्व पर मँडराता यह विनाश का संकट बढ़ेगा ही, घटेगा नहीं।

□□

समस्या के रचनात्मक समाधान

आधुनिक भोगवाद को उपयोगितावाद भी कहा जा सकता है। उपयोगितावाद केवल ऐंद्रिक सुख को प्रधानता देता है और कहता है कि यही सुख प्रत्यक्ष और तर्क संगत है। चूँकि सुख मनुष्य का अंतिम लक्ष्य है, इसलिये ऐसा कोई भी साधन, जो सुख की प्राप्ति में सहायक हो, उसे प्राप्त करने के लिए व्यक्ति स्वच्छंद है। इस स्वच्छंदता का दुष्परिणाम जनसंख्या वृद्धि और नैतिक स्तर में आयी गिरावट के रूप में देखा जा सकता है।

उपयोगितावाद प्राणिमात्र के प्रति कर्तव्य और सहानुभूति के भाव को नहीं मानता। उसका कहना है कि किसी भी नियम का प्रतिपादन प्रकृति के गुण और स्वभाव के अनुसार होना चाहिए। इस सिद्धांत के जनक जॉन स्टुअर्ट मिल का कहना है कि जो काम जितना आनंद की ओर ले जाता है, उतना ही अच्छा है तथा जो आनंद से जितनी विपरीत दिशा में ले जाता है, उतना ही बुरा है।

प्रकृति का सिद्धांत यह है कि बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है। बड़े वृक्ष छोटे पौधों को पनपने नहीं देते। बड़े जीव छोटे जीवों की सत्ता और स्वतंत्रता का अपहरण करते रहते हैं, उन्हें मार कर खाते रहते हैं। यही सिद्धांत सभी पर लागू होता है अर्थात् सुख की पूर्ति के लिए स्वच्छंदता ही नहीं, शक्तिवाद भी सही है।

वास्तविकता यह है कि—प्रकृति का यह नियम सनातन नहीं, अपवाद है। अधिकांश प्रकृति परोपकार के नियम का अनुसरण करती है। वृक्ष अपने फल आप सेवन नहीं करते, नदियाँ औरों के लिए बहती हैं, सूर्य भ्रमण करता है, जिससे सर्वत्र शक्ति, चेतनता विकसित होती रहे। "जियो और जीने दो—प्रयत्न करो और शाश्वत सुख की प्राप्ति करो—उसके लिए यदि भौतिक जीवन को तपोमय बनाना पड़े तो बनाना चाहिए।" यह विश्व का नैसर्गिक नियम है और संपूर्ण भारतीय

संस्कृति उसी पर आधारित है। इसी कारण भारतीय जीवन में आज भी अपेक्षाकृत अधिक शांति और सौहार्द्र बना हुआ है।

उपयोगितावाद का कहना है कि "पुण्य की कामना ही नहीं करनी चाहिए।" इस मान्यता ने मनुष्य जीवन के आदर्श को ही उलट-पुलट कर दिया है। जबकि जीवन का वास्तविक लक्ष्य है—प्रेम, दया, भ्रातृ-भाव व आध्यात्मिकता पर तथाकथित उपयोगितावाद में इनका कोई उल्लेख नहीं, भौतिकतावादी सुख की ही प्रधानता रह गई है।

परिणाम—मशीन और वासना की भीड़ का अस्तित्व समाप्त हो गया। चारों ओर भयंकर प्रतिद्वंद्विता—सुखों में औरों को पछाड़ने की अंधी दौड़ चल रही है। धन की अदम्य लालसा ही जीवन का प्रधान लक्ष्य बन गया है, उसके नीचे सेवा, सद्भावना, त्याग और भलमनसाहत का जीवन दबा पड़ा है।

कहीं भी शांति दृष्टिगोचर नहीं हो रही। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि योरोपीय समृद्ध देशों में ही नहीं, संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे धनी देश में भी ८ सेकंड पर एक अपराध अर्थात् प्रतिदिन १०८०० अपराध होते हैं। भारतवर्ष में जहाँ पाश्चात्य जीवन की हल्की लहर सी आई है, उसका कुप्रभाव गृह-मंत्रालय के यह आँकड़े बताने लगे हैं। सन् १९५९ में हस्तक्षेप योग्य ६ लाख २० हजार ३२६ अपराध भारतवर्ष में हुए, यह संख्या सन् १९६४ में ७ लाख ५६ हजार १३ तक पहुँची। १९६५ में जुलाई, अगस्त, सितंबर कुल तीन महीनों में १ लाख ५८ हजार अपराध हुए। बड़े आश्चर्य की बात यह है कि उत्तर प्रदेश में शिक्षा प्रसार के साथ-साथ युवक-युवतियाँ नये-नये अपराधों की ओर प्रेरित हो रहे हैं। १९६२ में उत्तर प्रदेश में प्रति एक लाख व्यक्ति के पीछे पुलिस के ध्यान देने १७.३ अपराध सुशिक्षितों द्वारा किये गये। शिक्षितों में अपराधी मनोवृत्ति का बढ़ना मानवीय सभ्यता पर कलंक तो है, पर उसे उपयोगितावाद और भौतिक सिद्धांतों की ही देन मानना पड़ेगा।

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण 'हिप्पी दर्शन' है, जो अब से कुल ५२ ही वर्ष पूर्व अमेरिका में आविर्भूत हुआ। १५ से २० वर्ष तक की कच्ची

आयु के युवकों और युवतियों ने आज के जटिल और भौतिकवादी जीवन से ऊबकर एक नये दर्शन को जन्म दिया। जिसे न तो पुरातन संस्कृति कह सकते हैं, न अधुनातन। दोनों के बीच की एक दिग्भ्रांत दिशा है, यह हिप्पी दर्शन। जिसका तात्पर्य है—समाज की वर्तमान सभी मान्यताओं को तोड़-फोड़कर चकनाचूर कर देना।

यह अमेरिका के लिए ही नहीं, सारे सभ्य जगत् के लिए एक चेतावनी है कि यदि भौतिक दिशा में इसी तरह कदम बढ़ते रहे और अध्यात्म के सच्चे स्वरूप को जो अंतःकरण से प्रस्फुटित होता है न पहचाना, माना और जाना गया, तो ऐसे-ऐसे अनेक दर्शन उठ पड़ेंगे और तब मानवीय सभ्यता का दृश्य ही कुछ और होगा।

■ भोगवाद का विद्रोह-विस्फोट

हिप्पियों की जीवनचर्या अथवा कार्य पद्धति में कोई सुख-सुविधा भरी नहीं है। समाज का सहयोग भी प्राप्त नहीं होता और न कमाई के प्रचुर आर्थिक स्रोत ही उनके पास हैं। निरुद्देश्य और असामाजिक रीति-नीति जहाँ उन्हें उपहासास्पद बनाती है, वहाँ सहानुभूति से भी वंचित करती है। ऐसा कष्ट साध्य मार्ग वे किसी भौतिक सुख-सुविधा के लिए चुन रहे हों, ऐसा नहीं लगता। धूर्तों जैसे छल-प्रपंच भी उनके क्रिया-कलाप में सम्मिलित नहीं है, भरी जवानी में इस प्रकार अवधूतों जैसे आचरण में इतने प्रतिभाशाली जीवन क्यों लग पड़े, इस तथ्य पर गंभीरतापूर्वक विचार किया जाना चाहिए। सिरफिरों की सनक कहकर सस्ता समाधान नहीं ढूँढ़ा जाना चाहिए।

हिप्पीवाद का आरंभ थोड़े से बीटल किशोरों द्वारा हुआ। उन्होंने सड़कों पर गीत गाकर समाजगत कुत्साओं और व्यक्तिगत कुंठाओं पर करारे व्यंग्य किये और कहा, "स्वस्थ मनुष्यता पर दुष्ट नियंत्रण इतने अधिक हावी हो गये हैं कि जो यथार्थ है, उसे ढूँढ़ निकालना अब संभव नहीं रहा। अस्तु हम इसे आदि से अंत तक अस्वीकार करेंगे, ताकि मनुष्यता को नये सिरे से उभरने का अवसर मिले।"

प्रचलित परंपराओं के विरुद्ध सुलगती आग ने इस प्रकार एक नये किस्म के विद्रोह को जन्म दिया। वह तेजी से फैला। योरोप, अमेरिका से आगे बढ़कर वह ऐसा अन्यत्र विश्व के हर कोने में फैला और अब लाखों व्यक्ति हिप्पियों के रूप में अवधूत गतिविधियाँ अपनाये हुए विचरण करते दीखते हैं। यह एक अनोखे किस्म का विद्रोह है। दूसरे आंदोलनों में दबाव रहता है और विपक्ष की गतिविधियों को बदलने के लिए विवशता उत्पन्न की जाती है। पर इस आंदोलन में व्यक्ति अपने आपको विद्रोही के रूप में प्रस्तुत करता है। स्वयं कष्ट सहता है और सर्व साधारण का ध्यान यह विचार करने के लिए आकर्षित करता है कि उनका विद्रोह सकारण है या नहीं ? बीटल, इसकी तुलना गाँधीजी के सविनय अवज्ञा आंदोलन से करते हैं।

हिप्पी वर्ग का कहना है कि आज शब्दों की फेर-बदल ने आदिमकाल की दुष्ट पशुता पर ऐसे रंग-बिरंगे सैद्धांतिक आवरण चढ़ा दिये हैं, जिनके कारण साधारण बुद्धि के लिए उचित-अनुचित का भेद कर सकना भी संभव नहीं रहा। ऐसी दशा में कुछ खास प्रचलनों में सुधार कर देने से काम चलने वाला नहीं है। सुधार आमूलचूल होना चाहिए। यही हिप्पीवाद का मूल आधार है। वे धर्म के नाम पर भूतकाल के वीभत्स रक्तपात को तथा राजनैतिक शासन के नाम पर गाँधीवाद से लेकर साम्यवाद तक के लिए बरती गई क्रूरताओं को प्रस्तुत करते हैं, और कहते हैं, प्रजातंत्र के परदे में चल रहा भ्रष्टाचार इससे भी गया बीता है। सामाजिक परंपराओं में अभी भी असमानता और शोषण को पूरी मान्यता मिली हुई है। इन प्रचलित मूल्यों के रहते हुए मानवता का सही रूप में उभर सकना संभव नहीं। विद्रोह के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं। इस मान्यता के अनुसार वे विद्रोह का आरंभ पनपती समाज विरोधी गतिविधियों से आरंभ करते हैं और सोचते हैं कि यह बीज अंततः एक ऐसे समग्र विद्रोह के रूप में परिणत होगा, जिसके द्वारा खंड-खंड सुधार की अपेक्षा समग्र नव-निर्माण संभव हो सके।

विचारशील वर्ग द्वारा पूर्ण रूप से न सही आंशिक रूप से यह स्वीकारा गया है कि विज्ञान, बुद्धिवाद और व्यवसाय की वृद्धि के

साथ अवांछनीयता की मात्रा बढ़ती ही गई है। दो महायुद्धों के समय जो छल-छद्म राजनैतिक स्तर पर सैन्य प्रयोजन के लिए अपनाये गये, अब वे सर्वविदित हो गये हैं और जिस तरह सरकारों ने उस समय उन बातों को आवश्यक माना था, उसी तरह जनता ने सामान्य जीवन में उन्हें आवश्यक मान लिया है। युद्धों में बर्बरता और छल-छद्मों का बोलबाला रहता है। विजयी ने जो भी तरीका अपनाया हो उसका गुण-दोष नहीं देखा जाता, वरन् सफलता की सराहना की जाती है, भले ही उसका आधार अवांछनीय ही क्यों न रहा हो। महायुद्धों ने इस युग के महान् धर्मोपदेशक का काम किया है। छुट-पुट लड़ाइयाँ भी देश-देशों के बीच लड़ी जाती रही हैं। उनके साथ जुड़े हुए राजनैतिक दाव-पेंचों और सैन्य चातुर्य को हर किसी ने समझा है और देखा है कि नीति-अनीति के पचड़े में कोई नहीं पड़ता। अपनी धींगा मस्ती को हर कोई सिद्धांतों के आवरण में लपेटकर इस तरह प्रस्तुत करता है कि सत्य को असत्य और असत्य को सत्य कहने में कुछ कठिनाई अनुभव नहीं। समय ने यह सिखाया है कि सफलता का नाम ही सत्य है, फिर चाहे उसका आधार कुछ भी क्यों न रहे।

युद्ध-नीति ने अब पूरी तरह व्यक्तिगत जीवन नीति का प्रामाणिक स्वरूप प्राप्त कर लिया है। हर व्यक्ति अपने निजी स्वार्थ, सुख, विनोद और वर्चस्व के लिए कुछ भी कर गुजरने को तत्पर है। मनुष्यों का समूह ही समाज है। लोग जिस स्तर के होते हैं समाज भी उसी स्तर का बन जाता है। हिप्पी वर्ग के अनुसार यही आज की ऐसी असह्य स्थिति है, जिसे बदला न गया, तो मनुष्य की पिशाच प्रवृत्तियाँ घटेंगी नहीं, बढ़ती ही जायेंगी।

हिप्पी वर्ग के इस मूल प्रतिपादन से निष्पक्ष वैचारिकी बहुत हद तक सहमत है। मतभेद का प्रधान मुद्दा यह है कि भ्रष्टता को महा भ्रष्टता से नहीं रोका जा सकता। विद्रोही को भी अपनी कुछ मान्यता और आस्था चाहिए। वह क्या चाहता है ? उसका लक्ष्य किस प्रकार के किस निर्माण का है ? उसका स्वरूप भी स्पष्ट करना चाहिए।

विरोध के लिए विरोध अपूर्ण है। अमान्य को अस्वीकार तो किया जा सकता है, पर साथ ही अपना पक्ष भी बताया जाना चाहिए और जो स्वरूप अपने प्रतिपादन का हो, उसके अनुरूप अपना आचरण ढालना चाहिए। तभी दोनों के नवीन प्रतिपादन की अच्छाई-बुराई समझने का अवसर मिलेगा और अपनाने, न अपनाने का निर्णय कर सकना संभव होगा। इस दृष्टि से हिप्पी आंदोलन अपूर्ण एवं एकांगी है। उसमें निषेध है, पर प्रतिपादन नहीं। निषेध भी कुछ विचित्र प्रकार का। समस्त प्रचलनों से इनकार करना जीवन-क्रम को निराधार और निरुद्देश्य बना देता है, यह ऐसा कदम है जिससे पूर्व प्रचलित अवांछनीय परंपराओं से भी अधिक अस्त-व्यस्तता उत्पन्न हो सकती है। इस अपूर्णता के कारण ही हिप्पी आंदोलन का मूल आधार विचारोत्तेजक होते हुए भी उसे वैसा समर्थन नहीं मिल सका जैसा मिलना चाहिए। कीचड़ से कीचड़ धोने की तरह ही हिप्पीवाद का यह प्रयास है कि अवांछनीयता का निराकरण अस्त-व्यस्तता द्वारा किया जाना।

धार्मिक, सामजिक, राजनैतिक और दार्शनिक बंधनों का जाल-जंजाल मनुष्य की मूलभूत विशेषता को नष्ट-भ्रष्ट किये दे रहा है। यह सिद्ध करते हुए पाल सार्त्र ने सर्वतंत्र स्वतंत्रता की आवश्यकता की माँग की है। दार्शनिक गिंस वर्ग ने वांछनीयता के आवरण से ढके हुए अवांछनीय प्रतिबंधों की भर्त्सना की है और कहा है कि अवैज्ञानिक प्रतिबंधों से मनुष्य सदाचारी नहीं, पाखंडी ही बन सकता है। टामस लियरी ने सलाह दी है कि विचारशील लोग दुनिया का साथ छोड़ दें। वर्तमान ढर्रे की हर प्रथा से इनकार करें, ताकि विद्रोहियों का एक विशेष वर्ग खड़ा हो सके। कामू ने प्रचलित संस्कृति को असभ्यों की सभ्यता नाम दिया है।

यह बंधन-विद्रोह विभिन्न क्षेत्रों में फूटा है। एक्शन पेटिंग के जन्मदाता पिकासो और जेक्सन पालाक ने चित्रकला के प्रचलित मूल्यों को उठाकर ताक पर रख दिया है। रंगमंच पर ऑफ ब्राडवे शैली ने पुरानी अभिनय परंपरा को उपहासास्पद बताया है। आज हैरिसन ने संगीत की ऐसी स्वतंत्र शैली विकसित की है, जिसमें गायन और वादन

अनाथालय के छात्रों की प्रार्थना सभा जैसा लगता है। इन बुद्धिजीवियों के नेतृत्व ने परंपरा विरोधी विद्रोह को एक व्यवस्थित दर्शन दिया है। कहते हैं हिप्पीवाद उसी चिंतन की देन है। विद्रोह के स्वर ऊँचे करते हुए वे कहते हैं—राजनीतिज्ञों, धर्मगुरुओं, समाज के ठेकेदारों साहित्यकारों, कलाकारों, धनाधीशों, बुद्धिवादियों और सुव्यवस्था के ठेकेदारों पर अब विश्वास नहीं किया जा सकता। ये वर्ग निरंतर आज तक जनता के साथ विश्वासघात करते रहे हैं। मानवता और लोक कल्याण की दुहाई देकर ये लोग खोखली शब्दावली से हमें यथार्थता से विरत कर, ऐसे कल्पना लोक में उड़ाते रहे हैं, जिसमें भ्रमजाल में उलझे रहने के अतिरिक्त और किसी को कुछ नहीं मिला।

हिप्पी, शंकर को एक विरोधी हिप्पी के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं और बुद्ध को अपनी बिरादरी का मानते हैं और पांडव जाति को भी। उनका कथन है देव समाज के पाखंड से रुष्ट होकर शिव ने श्मशान का निवास, भस्म का परिधान, सर्पों को साथी बनाया था और नशा पीकर अपने विद्रोह की ज्वाला पर नियंत्रण करते थे, एक बार तो वे तांडव नृत्य करके पुरानी दुनिया को जला देने पर भी उतारू हो गये। बुद्ध ने पुत्र, पत्नी और राजपाट को त्यागकर यह सिद्ध किया था कि मनुष्य को समाज का कोई भी बंधन स्थायी रूप से स्वीकार नहीं करना चाहिए। पाँच पांडवों ने एक ही सम्मिलित पत्नी से काम चलाया था और नारी के इस अधिकार को स्वीकार किया था कि एक ही समय उसका प्रणय व्यापार कई व्यक्तियों के साथ चलता रहे, तो इसमें कुछ हर्ज नहीं।

■ निरंकुश भोगवाद की परिणति

इस स्थिति को निरंकुश भोगवाद की परिणति ही कहा जाना चाहिए। यह स्वाभाविक ही है किसी भी प्रवृत्ति में, दिशा में बुरी तरह डूबे रहने के बाद उससे विरक्ति होगी। मीठा खाते-खाते उससे भी जी ऊबने लगेगा और इसके उपरांत भी यदि कोई मीठा खाने के लिए दबाव डाले, बाध्य करे, तो विद्रोह करने का जी हो उठता है।

हिप्पीवाद, इसी निरंकुश और आत्यंतिक भौतिकता के प्रति संवेदनशील युवकों में जन्मा विद्रोह है। समाज में यह स्थिति आ पाना संभव नहीं है; क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति तो संवेदनशील होता नहीं और हुआ भी तो उस सीमा तक नहीं कि वह मान्य व्यवस्था से ही विद्रोह कर उठे।

फिर भी उसके दुष्परिणाम विभिन्न रूपों में जन्मते और उत्पन्न होते हैं। कामुकता, अश्लीलता, मुक्त यौनाचार और इसी तरह की उन्मुक्त दुष्प्रवृत्तियाँ निरंकुश भोगवाद के ही परिणाम हैं। इन दुष्प्रवृत्तियों के कारण कई समस्याएँ भी उत्पन्न होना स्वाभाविक है। जनसंख्या की असामान्य वृद्धि उन्हीं समस्याओं में से एक है। लोग बिना सोचे समझे, आँखें मूँदकर बच्चे पैदा करते चले जा रहे हैं। बच्चे पहले भी पैदा होते थे, पर १० में से ६ बच्चे बीमारी, चिकित्सा साधनों के अभाव और अन्य कारणों से मर जाते थे। विज्ञान ने उन कारणों पर नियंत्रण पा लिया है, इसलिए अब १० में से ६ बच्चे जीवित रहते हैं और मुश्किल से १ बच्चा मरता है। इस प्रकार जनसंख्या वृद्धि के बढ़ते हुए दबाव से जीवनोपयोगी वस्तुओं का अभाव होने लगा है। निवास, अन्न, वस्त्र, शिक्षा, चिकित्सा, आजीविका, यातायात के साधनों के लिए किस बुरी तरह खींच-तान हो रही है, यह किसी से छिपा नहीं है। जिस चक्रवृद्धि क्रम से जनसंख्या बढ़ रही है, उसके जो दुष्परिणाम निकट भविष्य में सामने आने वाले हैं, उनकी कल्पना करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। विशेषज्ञों का अनुमान है कि अब से सौ वर्ष बाद, मनुष्यों की स्थिति मक्खी, मच्छरों जैसी हो जायेगी और वे, बेमौत काल के गाल में घुसते चले जायेंगे। जीवन निर्वाह के साधन समाप्त होने के कारण मनुष्यों को भी निर्वाह के हर क्षेत्र में गतिरोध दिखाई देगा और वे बरसाती कीड़ों की तरह चारों ओर रेंगते, गंदगी फैलाते, मरते खपते दिखाई पड़ेंगे।

जनसंख्या नियमन आज की खाद्य, शिक्षा, चिकित्सा, आजीविका एवं युद्ध वर्जन से भी बड़ी समस्या है। उस एक समस्या को मूल और अन्यों को पत्ते कहा जा सकता है। जड़ को

सींचने, सँभालने से काम चलेगा, पत्ते पोतने से नहीं। जनसंख्या सीमित हो तो धरती के अनुदानों से, प्रकृति संपदा से लाभान्वित रहा जा सकता है और विभिन्न प्रकार के टकरावों से बचा जा सकता है। अस्तु यदि संसार के विचारशील लोग इस समस्या के समाधान के विभिन्न उपाय सोच रहे हैं और विवेकवान वर्ग विभिन्न प्रयोग कर रहे हैं, तो यह सराहनीय चेष्टा ही कही जायेगी।

नैतिक, चारित्रिक और सांस्कृतिक संकटों ने इन दिनों समस्त मानव जाति को उद्विग्न एवं संत्रस्त कर रखा है। इसका कारण है—मानवी दुर्बुद्धि-अदूरदर्शिता। दांपत्य-जीवन का उच्चस्तरीय आनंद लेते हुए ही जनसंख्या वृद्धि को रोका जा सकता है और वैज्ञानिक प्रगति से संसार से दरिद्रता, रुग्णता, अशिक्षा एवं पिछड़ेपन को दूर किया जा सकता है। यदि मानवी दुर्बुद्धि को रोका जा सके और उसका स्थान सद्भावना को, विवेकशीलता को मिल सके, तो उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझ सकती हैं।

■ यह किया जाय

इन दिनों प्रबुद्ध वर्ग में यह विचार दिन-दिन जोर पकड़ रहा है कि लोग अविवाहित जीवन व्यतीत करें, यदि विवाह भी करें तो संतानोत्पादन न करने का आरंभ से ही निश्चय कर लें, जिनकी आर्थिक, बौद्धिक एवं शारीरिक क्षमता संतान को समुन्नत बनाने की है, वे न्यूनतम संख्या में बच्चे पैदा करें। एक या दो पर्याप्त माने जाने चाहिए। यह विचार न केवल चिंतन क्षेत्र में ही, वरन् कार्यान्वित भी किये जा रहे हैं। इस दिशा में कई देश बहुत आगे हैं।

जापान क्षेत्रफल की दृष्टि से बहुत छोटा देश है। वहाँ के प्राकृतिक साधन भी स्वल्प हैं। इस वस्तुस्थिति से हर नागरिक परिचित है। वे जानते हैं कि यदि अनियंत्रित सीमा में बच्चे पैदा किये जाने लगें तो वह छोटा-सा टापू पचास-चालीस वर्ष के भीतर ही टिड्डी दल की तरह मनुष्यों से भर जायेगा और वे बरसाती

मक्खी, मच्छरों की तरह अभावग्रस्त होकर बेमौत मरेंगे। इस दयनीय दुर्दशा के खतरे को समझकर, वहाँ का हर नागरिक इस बात के लिए सचेष्ट रहता है कि जनसंख्या बढ़ने न पाये। यही कारण है कि हजारों वर्षों से समुन्नत स्थिति का वह देश उपभोग कर रहा है और उन खतरों से बचा हुआ है, जो भारत जैसे देश के सिर पर नंगी तलवार की तरह नाच रहा है।

जापान के नर-नारी विवाह से बचते हैं। उनमें से प्रायः एक तिहाई लोग आजीवन अविवाहित रहते हैं। जो विवाह करते हैं, वे बच्चे न होने की आवश्यक व्यवस्था अपनाये रहते हैं। जो बच्चे पैदा करते हैं, उनकी संख्या कम ही होती है। वे सभी एक-दो संतान के बाद उस झंझट को समाप्त कर देते हैं। यह किसी से छिपा नहीं है कि पिता की आर्थिक स्थिति पर, माता के स्वास्थ्य पर, देश के विकास पर बढ़ती हुई संतान कितना अधिक भार डालती है ? जितना बोझ उठाने की कंधों में सामर्थ्य हो, उतना ही उठाना समझदारी है। उस देश में विवाह कमजोरी या मजबूरी का कारण माना जाता है और उसे उपेक्षणीय माना जाता है। वहाँ विवाहों की बधाई नहीं बँटती, क्योंकि वह एक प्रतिगामी कदम माना जाता है।

अब विवाहों की आयु बढ़ रही है। भारत जैसे देश के पागल लोग तो दूध मुँहे बच्चों के विवाह भी कर सकते हैं और उस संतान हत्या की खुशी भी मना सकते हैं, पर प्रगतिशील देशों के लोग यह सोचते हैं, तब तक व्यर्थ का अडंगा उत्पन्न करके अपने विकास प्रयत्नों में अवरोध क्यों खड़ा किया जाए ? निश्चित रूप से विवाह के साथ इतने अधिक उत्तरदायित्व सिर पर आते हैं कि आदमी उसके बोझ से दबता, पिसता ही चला जाता है, उस गाड़ी को खींचने में उसका सारा कचूमर निकल जाता है, कोई बड़ी बात सोचना, कोई बड़े कदम उठाना, कोई प्रगति करना, उसके लिए समय, शक्ति, चिंतन और धन के अभाव में संभव ही नहीं हो पाता। जो कुछ है—वह इसी गृहस्थ की भट्ठी में जलता चला जाता है।

विवाह की आयु प्रगतिशील देशों में वह समझी जाती है, जिसमें मनुष्य थकान अनुभव करने लगे और महत्त्वाकांक्षाओं की इतिश्री कर दे। जिन्हें विवाह करना होता है, वे चालीस वर्ष के पश्चात् करते हैं, ताकि अपने परिपक्व अनुभव से एक-दूसरे के साथ अधिक अच्छी तरह निर्वाह कर सकें। नई उम्र के जोशीले बच्चे तो भावुकता के घोड़े पर चढ़े होते हैं। अभी प्राणाधिक प्यार, अभी उपेक्षा, अभी आवेश, अभी तलाक, अभी आत्महत्या—यह उपद्रव नई उम्र वाले ही करते हैं। प्रकृति के अनुसार बच्चे पैदा करने का उभार भी नई उम्र में ही होता है। ढलती आयु में उस उफान से शरीर स्वयं बचता है। स्थिर बुद्धि के अनुभवी लोग अपना सहयोग भी दूरदर्शी सहिष्णु सिद्धांतों के आधार पर शांत चित्त से निभा लेते हैं और एक-दूसरे के लिए अधिक उपयोगी—सहायक सिद्ध होते हैं।

राष्ट्र संघ द्वारा संग्रहीत आँकड़ों की पुस्तक 'डेमोग्राफिक ईयर बुक' के अनुसार संसार भर की औसत गणना के आधार पर महिलाएँ २४ वर्ष की आयु में और पुरुष २७ वर्ष की आयु में विवाह करते हैं। आयरलैंड का अनुपात इस दृष्टि से सबसे ऊँचा है। वहाँ विवाह की आयु ३१ वर्ष है। उस देश में आमतौर से महिलाएँ ४५ वर्ष बाद और पुरुष ५८ वर्ष बाद विवाह-बंधन में बँधना पसंद करते हैं। आधे लोग तो आजीवन अविवाहित ही रहते हैं।

यह आँकड़े बताते हैं कि कुछ अनुभवहीन नर-नारी बीस-पच्चीस वर्ष की आयु में विवाह करते होंगे और कुछ दूरदर्शी लोग ४० के आस-पास उस बंधन में बँधते होंगे, तभी तो अनुपात औसत इतना आता होगा। संसार भर की नारियों की औसत आयु जब २४ वर्ष और पुरुषों की २७ वर्ष मानी गई है, तो उसमें भारत जैसे बारह-चौदह वर्ष की आयु में ब्याह करने वाले लोगों की गणना भी सम्मिलित होगी। बुद्धिमानी का औसत फैलाया जाए, तो वह ३० और ४० वर्ष के बीच पहुँचेगा। यह हवा यदि ठीक तरह चलने लगी और लोगों ने जनसंख्या वृद्धि के खतरे को ध्यान में रखते हुए—व्यक्तित्वों को अधिक विकसित करने की आवश्यकता समझते

हुए यदि विवाह की आयु बढ़ाने का ध्यान रखा, तो सामने खड़ी सर्वनाशी विपत्ति से जरूर राहत मिलेगी।

अक्सर यह दलील दी जाती है कि अविवाहित असंयमी हो जाते हैं। जहाँ तक शरीर निचोड़ने का संबंध है, विवाहित लोग ही उस प्रकार की क्षति अधिक उठाते हैं। व्यभिचार एक मनःस्थिति है। वह विवाहितों में कम नहीं, अधिक ही पनपा हुआ देखा जा सकता है। नैतिक प्रश्न मनुष्य के चिंतन, दृष्टिकोण एवं चरित्र से जुड़ा हुआ है। यह तथ्य विवाहित और अविवाहित दोनों ही पक्षों को समान रूप से प्रभावित कर सकते हैं। संयमी, सदाचारी रहने और उच्छृंखल-अनाचारी बनने में विवाह न कुछ सहायक होता है, न बाधक। एक क्षण के लिए यह मान भी लिया जाए कि विवाह से यौन सदाचार होता होगा, तो उससे जितना लाभ है, उससे अधिक वैयक्तिक और सामाजिक हानि वे हैं, जो शारीरिक, मानसिक, आर्थिक और राष्ट्रीय समस्याओं को बेतरह प्रभावित करती हैं। तुलनात्मक विवेचन करने पर यौन सदाचार को अत्यधिक महत्त्व देने पर भी यह सिद्ध नहीं होता कि उतने भर से व्यक्ति अपने को, अपनी पत्नी को, अपने बच्चों को और अपने समाज को अच्छी स्थिति दे सके।

जहाँ तक साथी, सहचर, मित्र, घनिष्ठ या आत्मीय का संबंध है और मिल-जुलकर जीवन जीने की व्यवस्था का प्रश्न है, वहाँ नर-नारी का कोई खास महत्त्व नहीं। क्या दो भाई या दो बहनें मिलकर साझीदारी की जिंदगी नहीं काट सकते ? जहाँ तक जीवन व्यवस्था में दो साथी-सहचरों का संबंध है—दो पुरुष या दो नारियाँ भी इस तरह की साझीदारी बना सकती हैं। यौन आचरण की बात को यदि अलग रख दिया जाए, तो विवाह का ८० प्रतिशत प्रयोजन दो घनिष्ठ मित्र मिलकर भली प्रकार पूरा कर सकते हैं। मात्र यौन आचरण के लिए विवाह करना, वस्तुतः विवाह संस्था को अत्यंत निकृष्ट स्तर पर पटक देना है। यदि ऐसा ही है तो उसे कानूनी वेश्यावृत्ति से अधिक और क्या कहा जायगा !

आवश्यकतानुसार नर-नारी भी मिल-जुलकर रह सकते हैं और विवाह-बंधन में बँधे रह सकते हैं। यदि उनके सामने पारस्परिक उत्कृष्ट सहयोग का अथवा मिल-जुलकर समाज के लिए उपयोगी काम करने का लक्ष्य हो, तो वे बिना संतानोत्पादन का उत्तरदायित्व कंधे पर उठाये अपने आनंद लक्ष्य यौनाचार से तथा संतानोत्पादन से सहज ही ऊँचा रख सकते हैं।

आवश्यकता क्या है कि संतानोत्पादन को अनिवार्य या आवश्यक ही समझें ? क्या व्यक्ति और समाज का भार बढ़ाने की अपेक्षा नर-नारी का मिलन किन्हीं अन्य उपयोगी कार्यों में प्रयुक्त नहीं हो सकता ?

क्या पच्चीस साल से भी कम आयु के शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अपरिपक्व और अविकसित बच्चों का विवाह बंधन में बँधकर अपनी प्रगति के द्वार बंद कर देना और अनावश्यक दबाव में दबकर अपना भविष्य अंधकारमय बना लेना उचित है ? इस प्रश्न पर इस तथ्य को भी ध्यान में रखकर विचार करना होगा कि बढ़ती हुई जनसंख्या की दर मानवीय अस्तित्व को धरती पर से मिटा देने के लिए एक भयंकर विभीषिका के रूप में सामने खड़ी है।

माल्थस ने जनसंख्या रोकने के दो उपाय बताये हैं—(१) पॉजिटिव चेक (२) प्रिवेंटिव चेक। पहले का आशय उपर्युक्त कथन से ही है। माल्थस कहते हैं—जनसंख्या बढ़ती है, तो लोग पत्ते खाने को तरसते हैं। फिर प्रकृति अकाल, महामारी, भुखमरी आदि से उनका स्वयं संहार कर देती है।

प्रिवेंटिव चेक का तात्पर्य यह है कि मनुष्य स्वयं निरोध कर ले। उससे वह सुरक्षित रह सकता है। इसमें प्रतिबंधात्मक निरोध, जिसमें परिवार नियोजन के सारे साधन आते हैं, पहला उपाय है। दूसरा और सबसे अच्छा उपाय यह है कि मनुष्य संयमित जीवन बिताये, पर इसके लिए उसे रचनात्मक दिशा की आवश्यकता होगी अर्थात् उसे मनोरंजन के ऐसे साधन देने होंगे, जो काम-सुख की तुलना में कहीं अधिक आकर्षक हों।

प्रतिबंधात्मक रोकथाम को माल्थस ने भी बुरा माना है और बताया है कि कृत्रिम साधनों से परिवार-नियोजन करने वाली जातियाँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से कमजोर होती हैं। लूप, निरोध, नसबंदी आदि की चर्चा करने से आत्महीनता के भाव आते हैं, जबकि सरकारी मशीनरी के हाथ में यह साधन हों, तब उसके दुरुपयोग की और भी आशंका रहती है, जैसा कि इन दिनों हो रहा है। आज का परिवार नियोजन कार्यक्रम चारित्रिक अवस्थाओं को सबसे अधिक चरमरा देने वाला आयोजन है। विनोबा ने तो उसे 'मातृत्व की विडंबना' कहकर पुकारा है। यदि इन कृत्रिम साधनों की चर्चा बंद न हुई, तो हम अपना संपूर्ण आध्यात्मिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक गौरव तक खो सकते हैं।

कृत्रिम साधन कामुकता और अनैतिक आचरण को प्रोत्साहन देते हैं। यौन-समस्या शारीरिक कम, मानसिक अधिक है। कृत्रिम साधन लोगों को मानसिक दृष्टि से विभ्रांत और विक्षिप्त बनाते हैं। सामान्य चर्चा से काम-स्वेच्छावाद भड़कता है, सामाजिक मर्यादायें टूटती हैं, सांस्कृतिक मूल्य बदल जाते हैं।

माल्थस ने सबसे अच्छा उपाय समाज और भावी पीढ़ी को रचनात्मक दिशायें देने को माना है। परिवार नियोजन कार्यक्रमों को हटाकर यह शक्ति समाज-कल्याण को दे देनी चाहिए और उनका कार्यक्षेत्र गाँव-गाँव (१) खेलकूद और व्यायामशालायें (२) पाठशालायें (३) लघु कुटीर उद्योग (४) सांस्कृतिक आयोजन आदि तक बढ़ा देना चाहिए। मालवीय जी के मन में यह योजना थी—वे गाँव-गाँव में पाठशालायें, व्यायामशालायें और सांस्कृतिक आयोजनों के मंडल और पीठ स्थापित करने का एक विधिवत् आंदोलन चलाना चाहते थे। उससे लोगों को स्वस्थ मनोरंजन मिलता और वर्तमान काम-प्रवृत्ति से लोगों का ध्यान टूटता।

महामना मालवीयजी की इस आकांक्षा को अब पूरा किया जाए, तो हम जनसंख्या रोकने में सात्त्विक ढंग की सफलता प्राप्त कर सकते हैं, अन्यथा न रोकने का परिणाम वही होगा, जो इस पुस्तक की प्रारंभिक पंक्तियों में दर्शाया गया।

मुद्रक—युग निर्माण प्रेस, मथुरा